हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु

२-५।

भक्तिरसामृतसिन्धु

[श्री रूपगोस्वामिविरचित मूल ग्रन्थ, हिन्दी-अनुवाद तथा 'दीपिका' हिन्दी-व्याख्या सहित]

प्रधान सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

सम्पादक

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

अनुवादक तथा व्याख्याकार

स्व० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

प्रकाशक

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिन्दी

भक्तिरसामृतसिन्धु

[श्री रूपगोस्वामिविरचित मूल ग्रन्थ, हिन्दी-अनुवाद
तथा 'दीपिका' हिन्दी-व्याख्या सहित]

प्रधान सम्पादक
डॉ० नगेन्द्र

सम्पादक
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

अनुवादक तथा व्याख्याकार
स्व० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

हिन्दी

भक्तिरसामृतसिन्धु

[श्री रूपगोस्वामिविरचित मूल ग्रन्थ, हिन्दी-अनुवाद
तथा 'दीपिका' हिन्दी-व्याख्या सहित]

प्रधान सम्पादक
डॉ० नगेन्द्र

सम्पादक
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

अनुवादक तथा व्याख्याकार
स्व० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

प्रकाशक
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मूल्य : पच्चीस रुपये

संस्करण : प्रथम, १९६३

मुद्रक :
नवीन प्रेस दिल्ली

हमारी योजना

'हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु' हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्-ग्रन्थमाला का २१वाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्' हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर, सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमे प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिनपर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है; और तीसरे ऐसे हैं जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्ति-जीवित, (३) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी रूपान्तर), (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, (७) होरेस कृत 'काव्यकला' (८) हिन्दी अभिनव भारती, (९) हिन्दी नाट्यदर्पण, (१०) सौन्दर्य-तत्व और काव्य-सिद्धान्त।

द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ है—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफी मत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम कवि और आचार्य, (११) आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त, (१२) ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य भक्ति, (१३) प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास, (१४) हिन्दी में नीति-काव्य का विकास, (१५) आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, (१६) आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप-विधाएँ, (१७) गुरुमुखी लिपि मे हिन्दी-काव्य।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है :

(१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध, (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम वर्ग का ११ वाँ प्रकाशन है। श्री रूपगोस्वामी मधुर भाव को भक्तिरस के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले मूर्धन्य आचार्य हैं और 'भक्तिरसामृतसिन्धु' उनकी साहित्यिक तथा धार्मिक प्रतिभा की प्रौढतम है काव्य-शास्त्र में भक्ति

को रस रूप मे स्वीकृत नही किया गया था किन्तु रूपगोस्वामी ने काव्यशास्त्रीय रसों का भक्ति में पर्यवसान कर ईश्वर भक्तो के लिए ही नहीं वरन् सहृदय साहित्य ममज्ञों के लिए भी भक्तिरस का सर्वथा नूतन पथ प्रशस्त कर दिया। हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य पर 'भक्तिरसामृतसिन्धु' का परोक्ष रूप मे पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अत: साहित्य के अनुसन्धान तथा अनुशीलन में इस ग्रन्थ की उपयोगिता असन्दिग्ध है, और इसका हिन्दी-भाष्य प्रस्तुत करने मे हम सुख एवं सन्तोष का अनुभव कर रहे है। हिन्दी-भाष्य का अधिकांश संस्कृत वाङ्मय के उद्भट विद्वान् (अब स्वर्गीय) आचार्य विश्वेश्वर द्वारा लिखा हुआ है। उत्तर विभाग की अष्टमी लहरी के आधे भाग का भाष्य लिखने के बाद श्री आचार्यजी अस्वस्थ हो गए। केवल अष्टमी लहरी का अर्द्धांश तथा नवमी लहरी का भाष्य शेष था। आचार्य जी अपनी रुग्णावस्था मे भी पुस्तक के मुद्रण, प्रूफ-सशोधन आदि में निरन्तर रुचि ले रहे थे, किन्तु चिकित्सकों के कठोर आदेश को मानकर उन्हे लिखना-पढना बन्द कर देना पड़ा। हमें आशा थी कि स्वस्थ होते ही वे ग्रन्थ का शेष भाष्य भी पूरा कर देंगे, किन्तु दुर्भाग्य से इस लम्बी बीमारी मे ही उनका ३० जुलाई, १९६२ को देहावसान हो गया। अतः साहित्याचार्य श्री पडित वशीधर शास्त्री ने हमारे अनुरोध पर अवशिष्ट भाग का भाष्य लिखने की कृपा की। हम उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते है।

इस ग्रन्थमाला के प्रकाशन मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने आर्थिक सहायता देकर हमें उपकृत किया है तथा सम्पादक-मण्डल के सदस्यों से हमें समय-समय पर अभीष्ट परामर्श एवं मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा है; इन सबके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते है।

—नगेन्द्र
प्रधान सम्पादक

विषयानुक्रमणिका

हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु

पूर्व विभाग (पृष्ठ १—११०)

द्वितीया साधनभक्ति लहरी २२—८९

दक्षिण विभाग (पृष्ठ ११३—३१४)

पश्चिम विभाग (पृष्ठ ३१७—४२०)

उत्तर विभाग पृष्ठ ४२३ ५०१

भूमिका

डा० विजयेन्द्र स्नातक

माधुर्य भक्ति का मूल :

मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में माधुर्यभक्ति का मूल उत्स अद्यावधि निर्विवाद रूपसे स्थिर नहीं किया जा सका है। जिस प्रकार भक्तिके विविध स्रोत माने जाते हैं उसी प्रकार माधुर्यभावपूर्ण भक्तिके मूल स्रोतका संधान भी अनेक ग्रन्थों, पद्धतियों एवं मतोंमें किया जाता है। दाम्पत्य-प्रेम-वर्णनको माधुर्यभावका मूल उत्स माननेवाले विद्वान् वेद-संहिताओंमें भी माधुर्यभावका बीज खोज निकालनेका प्रयास करें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। किन्तु माधुर्यभक्तिका संपूर्ण ढाँचा खड़ा करते समय हमें वेद और ब्राह्मण ग्रन्थोंसे यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं होती, फलतः हमें अपने अन्वेषणकी सीमाको मर्यादित करना पड़ता है। ऋग्वेद या बृहदारण्यक उपनिषद्में 'मधुविद्या' और अथर्ववेदमें 'मधुलता' का वर्णन देखकर 'माधुर्यभाव' की ओर दौड़ पड़ना शोधकी तात्विक सरणिका अनुगमन नहीं माना जा सकता। 'मधुविद्या' और 'मधुलता' का प्रतिपाद्य 'मधुरोपासना'से भिन्न कोटिका है। अतः केवल 'मधु' शब्दकी समतासे माधुर्यभावकी स्थापना करनेका प्रयत्न श्लाघ्य नहीं है। वेद में ईश्वरके साथ मानवात्माके विविध सम्बन्धोंका वर्णन है और इनमें माधुर्य (प्रेम) की कल्पना विद्यमान है, किन्तु वे वर्णन माधुर्य भक्तिसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते। अथर्ववेद का मन्त्र है—

> आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहं।
> जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तान उपह्वये॥

इसमें मनुष्यके प्रेम-सम्बन्धोंका स्पष्ट संकेत मिलता है। सृष्टि विद्याके प्रसंगमें वर्णित 'कामभाव'को भी माधुर्यभावका जनक नहीं माना जा सकता। लिंगोपासनाके भीतर माधुर्य के बीज खोजना भी दूरकी कौड़ी लानेके समान है। अतः इन सब अनुसन्धानोंको हम तात्विक दृष्टिसे ग्राह्य नहीं समझते।

मध्यकालीन भारतीय उपासनामें उपलब्ध प्रेम या अनुराग तत्वके सम्बन्धमें कतिपय मनीषी ईसाई विद्वानोंका विचार है कि यह भाव ईसाई सन्तोंकी परम्परासे भारतीय उपासनामें आया है। 'ईसाइयोंका आध्यात्मिक विवाह' (स्पिरिच्युल मैरिज) को माधुर्यकी प्रेरक भावना सिद्ध करनेका प्रयत्न अनेक पुस्तकोंमें दृष्टिगत होता है। रिचार्ड आव सेण्ट विक्टर ने बारहवीं शतीमें प्रेम-पथका वर्णन बड़ी मार्मिक शैलीसे प्रस्तुत किया था। सेण्ट बर्नार्ड प्रेमपूर्ण भक्ति-पद्धतिको स्वीकार करनेवाले सन्त थे। उन्होंने ईसाको पिता न मानकर दूलह के रूपमें चित्रित किया है सेण्ट टेरेसाने आध्यात्मिक [illegible] प्रसंगमें अपनेको प

दुलहिन कहा है। परमात्माके आलिंगनसे जीवात्मा उसमें लीन हो जाता है। [illegible] पढ़कर सन्त कबीरकी वाणीका स्मरण हो आता है। ईसाइयोंके [illegible] वर्णन को पढ़कर उसे भारतीय माधुर्यभक्तिका प्रेरक स्वीकार करना [illegible] करना होगा। ईसा मसीहके जन्म-कालसे भी पहले जिस भक्तिके [illegible] भारतीय [illegible] से प्रचुर मात्रा में मिलते हैं उनकी उपेक्षा करना युक्तियुक्त नहीं।

माधुर्यभावका क्रमिक विकास या माधुर्यभक्तिका [illegible] करना हमारा यहाँ उद्देश्य नहीं, हम मध्यकालीन माधुर्यभावके सम्बन्धमें [illegible] केवल संकेत करना चाहते हैं जिनके द्वारा माधुर्यभावका नाना-[illegible] [illegible] किया गया था।

मध्ययुगको सांस्कृतिक दृष्टिसे ह्रासका युग स्वीकार करनेपर भी भक्ति-भावना और साहित्यकी दृष्टिसे उसे उत्कर्ष और अभ्युदयका युग माना जाता है। इस युगमें देशके प्रायः सभी भागोंमें बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी, दार्शनिक, मननशील गम्भीर [illegible] कोटिके साधक और वीतराग भगवद्भक्त पैदा हुए। विद्वान् पण्डितों और [illegible] निरक्षर साधु-सन्तों तकने भगवद्भक्तिके सम्बन्धमें अपने [illegible] अथवा स्वानुभूति-निर्भर स्वतन्त्र विचार व्यक्त किये। योग, तन्त्र, साधना, [illegible] आदिके साथ सगुणो-पासनाके लिए पूजन, अर्चन, प्रपत्ति और दैन्य-कार्पण्य आदिका मार्ग [illegible] किया गया। सगुणोपासनासे पूर्व वैदिक, तान्त्रिक, श्रौत, और मिश्र चार प्रकारकी उपासना पद्धतियाँ प्रचलित थीं, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। वृहद्हारीत स्मृतिमें श्रौत, [illegible] और आगम तीन प्रकारकी उपासना पद्धतियोंका उल्लेख है। इन विविध उपासनाओंके भीतरसे ही सगुणोपासनाका प्रादुर्भाव हुआ। किसी बाह्य प्रभावसे सगुण या मूर्तिको स्वीकार नहीं किया गया। आराधनाकी प्रक्रिया या प्रकार पर संहिताओंमें विस्तारसे विचार किया गया है। अत्रिसंहिताके अनुसार आराधनाकी दो प्रक्रियाएँ हैं—अमूर्त और समूर्त। अग्निमें आहुति के माध्यमसे उपासना अमूर्त आराधना है। यह ब्राह्मणकालके यज्ञ [illegible] ही रूप है। प्रतिमा-पूजन समूर्त आराधना कही जाती है जो यज्ञकालके बाद प्रचलित हुई। कदाचित अमूर्त आराधनाको याज्ञिक रूपमें स्वीकार करनेके कारण ही यज्ञोंसे मूर्तिपूजाका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। प्रतिमापूजनका प्रारम्भ कबसे हुआ यह एक विवादास्पद प्रश्न रहा है। कुछ विद्वानोंने इसे द्राविड़ी पद्धति सिद्ध किया है और कुछ विद्वान् इसे भागवत सम्प्रदायकी की ही देन ठहराते हैं। जैन और बौद्धोंमें भी प्रतिमापूजन बहुत प्रारम्भसे चला आ रहा है। अतः यह निर्णय करना कठिन है कि समूर्त आराधनाका आलम्बन प्रतिमापूजन किस युग में प्रारम्भ हुआ।

वैष्णव-भक्तिमें स्वीकृत माधुर्यभावके मूल उत्सका संधान करनेके लिए हम उन्हीं स्रोतोंका अवगाहन करना समीचीन समझते हैं जिनमें माधुर्यभक्तिके तत्त्व स्पष्ट रूपसे लक्षित होते हैं। भागवत सम्प्रदायके नामसे पांचरात्र मतके उपासकोंका ग्रहण होता रहा है। पांचरात्र ग्रन्थके लेखक चित्रशिखण्डी आदि सात ऋषियोंको माना जाता है। यह निर्णय करना कठिन है कि पांचरात्र संहिताओंकी रचना किसने की किस कालमें की और कितनी संहिताएं पांचरात्रके [illegible] हैं किन्तु [illegible] इनका रचनाकाल महाभारतसे

पहले माना जाता है। कुछ संहिताएँ बादमें भी रची गयीं और पाञ्चरात्रके भीतर ही उनका परिगणन होता रहा। इन संहिताओंमें भक्तिका वर्णन-विवेचन जिस रूपमें हुआ है यदि उसको माधुर्यभक्तिकी पृष्ठभूमिमें रखकर अनुशीलन किया जाय तो बड़े विस्मयकारी तथ्य सामने आते हैं। पांचरात्र संहिताओंमे चार विषयोंका वर्णन माना जाता है जिसे ज्ञानपाद योगपाद, क्रियापाद और चर्यापादके नामसे व्यवहृत करते हैं। ज्ञानपादमें ब्रह्म, जीव और जगत्-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तोंका निरूपण आता है, योगपादमें यौगिक क्रियाओंका वर्णन है, क्रियापादमें मन्दिरों और मूर्तियोंके निर्माणकी विधि, मूर्तिस्थापन, पूजन आदिका समावेश रहता है, किन्तु क्रियापाद और चर्यापाद ही संहिताओंका मुख्य विषय बन गया था जो परवर्ती सगुणोपासनामें बड़े समारोहके साथ गृहीत हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदायकी सेवा-पूजा पद्धतिमें 'चर्या' का बाहुल्य देखकर कुछ विद्वानोंको उसके ऊपर मुगलकालीन विलास-वैभवके प्रभावका भ्रम हुआ था, यथार्थमें पाचरात्र संहिताओंके चर्या भागमें इन विधियोंका प्रचुरताके साथ वर्णन हुआ था और परवर्तीकालमें विस्तारको प्राप्त हुआ।

जयाख्य संहितामें मूर्त्तार्चनका विस्तार करते हुए उसके दो भेद किये गए हैं. एक समाधि उपाय और दूसरा मन्त्र उपाय। मन्त्रोपायको समाधि उपायसे श्रेष्ठतर कहा गया है। मन्त्रको विष्णुकी साक्षात् शक्ति माना गया है। मन्त्र-शक्तिका सर्वप्रथम प्रकाश नाद रूप होता है जिसे केवल महायोगी ही अनुभव करता है। नादके बाद बिन्दु आता है। नाद और बिन्दु नाम और रूप की अभिव्यञ्जना करनेवाले हैं। इनको निर्गुणोपासनामें बहुत स्थान मिला, किन्तु नादको मन्त्र रूपमें सगुणोपासक भी मानते रहे। अहिर्बुध्न्य संहिता मे शरणागतिके छह प्रकारोंका वर्णन किया गया है :

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥

यह षड्विध शरणागति माधुर्यभक्तिके पूर्वकी स्थितियोंमें प्रपत्ति या पुष्टिका परिचय देनेवाली है। इस संहितामें प्रभुकी शक्तिको उससे अभिन्न स्वीकार किया गया है। इस शक्तिको लक्ष्मी, श्री, कमला, रति, शिवा, नारायणी, विष्णुशक्ति अनेक नामोंसे पुकारा जाता है।

पाचरात्र संहिताके अन्तर्गत ज्ञानामृतसार नामक संहिता है। इसका रचनाकाल सन्दिग्ध है। विषय-वस्तुको देखकर इसे मध्ययुगके पूर्वभागकी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें प्रभु सेवाकी छह विधियां वर्णित हुई हैं, जिनमें स्मरण, कीर्तन, प्रणति, पादवन्दन, अर्चन और समर्पण हैं। इसमें कृष्णकी प्रिय गोपिका राधा का भी वर्णन हुआ है।

पांचरात्र संहिताओंका अनुसरण करनेवाली उपनिषदोंका भी मध्ययुगके उत्तर भाग म निर्माण किया गया; जिसमें नृसिंहतापिनी, रामतापिनी, गोपालतापिनी आदि उपनिषदो का वैष्णवभक्तिके जिस स्वरूपका प्रतिपादन हुआ वह परवर्ती कालमें अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ और अप्पय दीक्षितने पाचरात्र संहिताओंको उनके वण्य

बिरगत आध [illegible] पर नवैदिक [illegible] [illegible]
वि [illegible] वशिष्टाद्वैतवाद [illegible] प्रचार [illegible]
समान प्रमाण माना और उनका समर्थन [illegible]
पाञ्चरात्र मत भक्ति पर आश्रित था, ज्ञान [illegible]
उसकी आस्था नहीं थी। क्रिया और चर्या द्वारा उसने [illegible] मार्गकी
चेष्टा भक्ति-मार्ग द्वारा की थी। इस भक्ति-मार्गके [illegible] भी
सँधान किया जा सकता है। पांचरात्र मतमें क्रिया और चर्याके [illegible] प्रेम और माधुर्य
को भी अप्रत्यक्ष रूपसे स्वीकार किया गया था।

वैखानस आगम भी वैष्णव साधनाके प्रेरक रहे हैं किन्तु उनका माधुर्य भक्तिमें प्रत्यक्ष सम्बन्ध दृष्टिगत नहीं होता। वैखानस आगम वैदिक परम्पराके समीप [illegible] और मर्यादा मार्ग पर बल देते हुए आराधनाका विधान करते [illegible]। मरीचिके अनुसार आराधना के चार प्रकार हैं—जप, अग्निहोत्र, अर्चना, ध्यान। [illegible] वैखानस [illegible] विशेष रूपसे मान्य रहा। अतः माधुर्य-भक्तिकी पृष्ठभूमिमें उनका [illegible] नहीं किया जा सकता।

मध्ययुगमें शैव और शाक्त मतका प्रभाव अपने चरम उत्कर्ष पर था। [illegible] शैव धर्मानुयायी वैष्णवोंकी अपेक्षा अधिक थे। किन्तु [illegible] प्रभावके कारण उत्तर मध्ययुगमें शैव धर्मके प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करना आरम्भ कर दिया था। शैवागम और शाक्त तन्त्रोंकी साधना-पद्धतिका आंशिक प्रभाव माधुर्य-भक्तिके [illegible] पर अनेक विद्वानोंने दिखाया है। शैवोंमें शिव-भक्तिकी जैसी कल्पना है और शाक्तोंमें त्रिपुर सुन्दरीका जो रूप वर्णित हुआ है उसे राधाभाव, गोपीभाव आदिके साथ मिलाकर देखनेका आग्रह अनेक ग्रन्थोंमें पाया जाता है। युगल तत्त्व या [illegible] बीज भी शैव और शाक्तोंकी साधना-पद्धति में उपलब्ध होते हैं। [illegible] कामबीजात्मक और राधाको रति-बीजात्मिका कहा गया है। युगनद्ध [illegible] और व्यवदानकी अभिज्ञाके द्वारा संसारका सर्वथा निरसन हो जाता है, परम [illegible] अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह ग्राहक और ग्राह्यका, सान्त और अनन्तका, प्रज्ञा और उपायका, शून्यता और करुणाका, पुरुष और नारीका पूर्णतः सम्मिलन-सामरस्य है। बौद्ध तान्त्रिक साधना, सहजिया साधना और वैष्णव सहजिया साधना सबमें युगल रूपका वर्णन है जिसे माधुर्य भक्तिमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। तान्त्रिक साधनामें शिव-शक्तिका मिलन द्वारा उत्पन्न [illegible] ही परमसाध्य माना गया है। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजने [illegible] में सिद्ध किया है कि "प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें जो पैंतीस और छत्तीस तत्त्व अर्थात् शिव और शक्ति है, त्रिपुरा सिद्धान्तमें वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं, और गौड़ीय दर्शनमें वही श्रीकृष्ण और राधा है। शिव-शक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण-राधा एक और अभिन्न है।" तन्त्रमें परकीया साधनाका जैसा कामलिप्त वर्णन मिलता है उसे [illegible] रूपसे हटा कर माधुर्यभावमें प्रेमका साधन बनाया गया।

बौद्ध तान्त्रिक साधनाका भी माधुर्यभक्तिके विकासमें अप्रत्यक्ष हाथ रहा है। बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय वास्तवमें [illegible] पोषक था बौद्धोंकी महायान शाखा के अन्तर्गत

मन्त्रयान और वज्रयान भेदोंका उदय हुआ। .... ही नाम सहजयान हुआ। यार्ग साधना द्वारा सहज स्थितिको प्राप्त करना चाहता है। इस सहज स्थितिकी प्राप्ति गुरु कृपासे मानी गई है। वज्रयानके प्रमुख ग्रन्थ 'गुह्यसमाजतन्त्र' में कठोर कर्मकाण्ड, नियम पालन और मर्यादाओंकी सर्वथा अवहेलना करके कामनाओंके उपभोगका उपदेश दिया गय है। यही उपदेश परवर्ती वाममार्गके लिए पथ-प्रदर्शक हुआ होगा।

दक्षिण भारतके आलवार भक्तोंके मनमोहक गीतोंमें माधुर्यभक्तिका सुन्दर रूप देखनेमें आता है। आलवारोंके चार सहस्र गीत बताए जाते है जिन्हें 'नालायर प्रबन्धम्' में नाथमुनिने सकलित किया है। इस प्रबन्धका आदर दक्षिण भारतके वैष्णव समाजमें वेदोंके समान है। छठी शताब्दीसे नवम शताब्दी तक इनका रचना-काल माना जाता है। बारह आलवार भक्तोंने इन गीतोंकी अपने उल्लासके क्षणोंमें रचना की है। आलवार भक्तो के गीतोंकी मर्मस्पर्शिता उनकी मधुरभाव-व्यजनामें है। मधुर भावकी व्यजनाके लिए आलवार भक्तोंने जीवात्माको नायिका और परमात्माको नायकके रूपमें स्वीकार किया है। आलवार भक्त अपने प्रियतम (कृष्ण) के सदृश श्याम वर्णवाले मेघोंको देखकर आनन्दका अनुभव करता है और हंससे प्रियके पास सन्देशा ले जानेके लिए निवेदन करता है। इन भक्तोंमें नम्मालवार, शठकोप, अंजल, गोदा और तिरुमंगईके गीत मधुरभावकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने अपने हिन्दी-साहित्यके इतिहासमें आलवार भक्तोंके सम्बन्धमें विचार करते हुए माधुर्यभावकी छायाका सकेत किया है। आलवारोंमें तिरुमंगईने सबसे अधिक गीतोंकी रचना की है और मधुरभावका स्वरूप भी स्पष्ट रूपसे इनके गीतोंमें दृष्टिगत होता है। एक गीतमें वे कहते है—"हे कमनीयकान्त, मैं इस बात की शपथ कर रही हूँ, जिससे सब लोग इसे सुन ले कि जब तक विराट्‌रूपधारी जिसने विश्वको दीर्घकाय बनकर नाप लिया था, मेरे सुन्दर और पूर्ण यौवनका रसास्वादन नहीं करता, मैं अविरात ही उस कदम्ब वृक्षके समीप जाऊँगी, उसकी लताओंमें अपनेको बाँधकर आत्मघात कर लूँगी।" यह विरह-भावसे उत्पन्न एक ऐसी मनोविकृतिका चित्र है जिसमें नायिका (जीवात्मा) परमात्माका वियोग सहनेमें अपनेको असमर्थ पा रही है।

सूफ़ी साधकोंमें भी माधुर्यभावकी झाँकी देखी जा सकती है। सूफी अपने प्रेमको 'ईश्वरीय प्रेम' की संज्ञा देते थे। सूफ़ियोंने अपने ईश्वरको प्रियतमाका रूप दिया और उसकी प्राप्तिके लिए स्वयं साधनप्रिय बनकर भटकनेका बीड़ा उठाया। सूफ़ियोंमें राबिया का उल्लेख मिलता है जो अपने प्रियतमसे मिलनेको निशीथमें अपने घरकी छतपर जाकर परमात्माको सम्बोधन कर, विरहकातर हो ऊँचे स्वरसे पुकारकर कहती है—"हे ईश्वर! ससारका कोलाहल शान्त हो गया है, प्रेमी अपनी प्रियाके साथ है, मेरा तो तू ही एकमात्र प्रेमी है, फिर तू क्यों मुझसे मिलनेको नहीं आता।" जायसीने अपने 'इश्क हकीकी'के वर्णनमें जिन परिस्थितियोंकी उद्भावना की है वे प्रेमकी सांसारिक स्थितियोंके उन्नयन द्वारा ही की गई हैं। यथार्थमें सूफ़ियोंका प्रेम ईश्वरीय था किन्तु उसमें लौकिक प्रेम की झलक इस-लिए बनी हुई थी कि वह लोक-कथाओंके माध्यमसे व्यक्त हुआ था। माधुर्यभावका आधार जो .... सम्पृक्त नही होता

मध्ययुगीन निर्गुण सन्तोंकी अभिव्यक्तियोंमें माधुर्यभावका पुट देखा जा सकता है। दाम्पत्य सम्बन्धके रूपकोंकी भरमार तो कबीर, दादू, नानक आदि सन्तोंमें मिलती है। दाम्पत्य भावको पृष्ठभूमिमें रखकर आलंकारिक शैलीमें [illegible] प्रेमका वर्णन निर्गुणमार्ग में क्यों परिवर्तित हुआ यह प्रश्न विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि [illegible] प्रेमकी अभिव्यंजनाके लिए लौकिक रूपकोंके आश्रयकी परिपाटी चल गई थी। सन्तोंने भी 'भरतार और पिया', 'रामकी बहुरिया' और 'प्रियतमा' आदि सम्बोधन प्रयोग किया है। निर्गुणोपासक सन्तोंकी स्वकीया रूपसे माधुर्यभावकी व्यंजना स्वाभाविक होने तथा प्रेमके स्वरूपको हृदयंगम करानेमें अधिक समर्थ है, इसी कारण निर्गुणोपासक भी इसकी अवहेलना न कर सके। किन्तु माधुर्य भाव के मर्यादारूपमें इनका अटूट विश्वास था। [illegible] प्रेम और अनैतिक आचरणका वर्णन इन सन्त कवियोंके लिए सर्वथा असम्भव था। नाथ और सिद्ध सम्प्रदायमें भी नैतिकताका आग्रह प्रबल होनेके कारण नारीको उच्च स्थान नहीं मिला था। कौल, पाशुपत, कापालिक आदि मतोंमें सहज साधनाका वर्णन करते हुए प्रेम और नारीके माध्यमसे मधुर भावकी अभिव्यक्ति हुई है। परवर्ती वैष्णव सहजिया सम्प्रदायमें यही मधुर भाव परकीया भावके माध्यमसे अपने चरम विकासको प्राप्त हुआ। [illegible] यही विकास माधुर्य भक्तिके उज्ज्वल पक्षको विकृत कर उसके विकृत रूप को ही सामने लाया।

माधुर्यभक्तिके उपकरणोंका चयन पाचरात्र ग्रन्थोंसे लेकर सहजिया सम्प्रदायकी साधना पद्धतियोंसे होता रहा। इसमें भागवत पुराण तथा नारद और शाण्डिल्य के भक्तिसूत्रों का बहुत अधिक योगदान रहा। जब माधुर्यभक्ति चैतन्य मतके पण्डितोंके हाथ पड़ी तब उसकी पूरी रूपरेखा ही तैयार नहीं हुई वरन् उसका बाह्याभ्यन्तर सभी सर्वांगपूर्ण बना दिया गया। एक ओर उसे शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया तो दूसरी ओर उसकी सिद्धिके लिए साहित्य और दर्शनसे प्रमाण-तर्क भी एकत्र किये गये। रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामीने अपने ग्रन्थोंमें माधुर्यभक्तिको साहित्यिक आधार पर भक्तिरसके रूपमें प्रतिष्ठित किया जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। उससे पहले इस सम्बन्धमें भक्तिके स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है।

भक्तिके विभाग या भक्तिके रूपोंका निर्णय करना कठिन है। भक्ति अनेक प्रकार की होती है और उसके आधार भी विभिन्न हो सकते हैं। विभिन्न भावोंके आधार पर, उपास्य देवोंके आधार पर और प्रपत्तियोंके आधार पर भक्तिके विभाग सम्भव है। देवता-भेदसे भी भक्ति सम्प्रदायोंका वर्णन देखनेमें आता है। शास्त्रीय दृष्टिसे भक्तिके रूपोंका विवरण अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। प्राचीन विभाजनोंमें बोपदेव कृत विभाजन यहां दिखाना आवश्यक है। माधुर्यभक्तिके प्रसंगमें इस विभाजनकी उपादेयता असन्दिग्ध है। बोपदेवका विभाजन वैज्ञानिक होनेके साथ सर्वांगपूर्ण भी कहा जा सकता है।

भक्ति
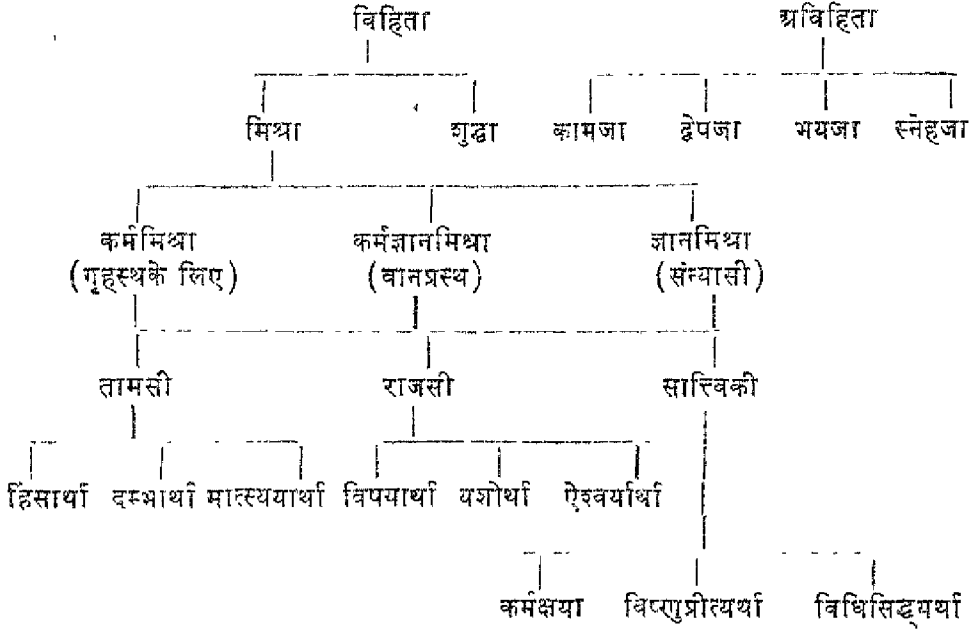
वेद प्रतिपादित मर्यादा पालन करते हुए भगवानमें मनोभिनिवेश 'विहिता भक्ति' कही जाती है। मर्यादाका ध्यान न रखते हुए भगवानमें मनोभिनिवेश 'अविहिता भक्ति' समझना चाहिए। 'विहिता भक्ति' के समस्त प्रकार सगुण भक्तिके नामसे अभिहित होते हैं। इसमें 'ज्ञानमिश्रा भक्ति' को भिक्षु और परमहंसोंके लिए कहा गया है। वह निर्गुण कही गई है। विहिताके भीतर शुद्ध भी एक भेद है जिसके लिए निष्काम और अविच्छिन्न होना आवश्यक है। रजोगुण और तमोगुणसे रहित शुद्ध सत्वमे उद्वेलित अन्तः करण वाला कोई भी भक्त इसका अनुगमन कर सकता है। 'अविहिता भक्ति' के चार भेदोंके क्रमशः चार प्रकारके अधिकारी बताए गये हैं। गोपियाँ, कंस, चैद्यादिक नृप तथा कृष्णवंशी संबंधी :

गोप्यः कामाद्भयात् कंसो, द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।

सम्बन्धाद्वृष्णयस्स्नेहाद्यूयम्भक्त्या वयं विभो।। भागवत पुराण ७।१।३०

यह सब विवरण मुक्ताफलमें विस्तारसे द्रष्टव्य है। माधुर्य भक्तिके प्रवर्तनमें इस विवरणकी उपादेयताको ध्यानमें रखना आवश्यक है, अतः इसका उल्लेख किया गया।

श्री मधुसूदन सरस्वतीने भक्ति रसायन ग्रन्थमें भक्तिकी परिभाषा करते हुए लिखा है—'द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते।' अथवा—'द्रवीभावपूर्विका मनसोभगवदाकार रूपासविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति।' नारद भक्ति सूत्र में, 'सात्वस्मिन् परमप्रेम रूपा' तथा शांडिल्य भक्ति सूत्रमें 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' द्वारा भक्तिका स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इन परिभाषाओं में प्रेम और अनुरागके द्वारा चित्तके द्रवीभावको प्रमुख स्थान दिया गया है मधुरा भक्तिके क्षेत्रमें इस भावका प्राधान्य इन परिभाषाओंके मार्गसे ही कदाचित पहुँचा होगा

माधुर्य भक्तिके स्वरूप-बोधके लिए भक्तिके विषयमें गौड़ीय आचार्योंके विवेचनका हम पहले संकेत कर चुके हैं। साम्प्रदायिक भक्तिमें माधुर्य भावका समावेश गौड़ीय भक्तोंके द्वारा सर्वाधिक हुआ और शास्त्रीय दृष्टिसे इस सम्प्रदायके मंजुल सन्देशका प्रभाव वल्लभ, राधावल्लभ तथा हरिदासी सम्प्रदायों पर भी पड़ा। रूप गोस्वामीके प्रधान [illegible] भक्ति-ग्रन्थ 'भक्तिरसामृत सिन्धु' में भक्तिके दो प्रमुख भेद किये हैं—गौणी और परा। साधन दशाकी भक्तिको गौणी और सिद्ध दशाकी भक्तिको परा भक्ति कहा गया है। गौणीके पुनः दो भेद किये हैं—वैधी और रागानुगा। शास्त्रानुमोदित भक्ति वैधी है। इस भक्तिके आलम्बन ऐश्वर्यमय विभु ईश्वर है। इसीका नाम मर्यादामयी है। वैधी भक्ति अपने दोनों कूलोंमें आबद्ध रहती है। किन्तु रागानुगा भक्ति राग या स्नेह प्रधान है। वह इन किनारोंके बन्धन स्वीकार नही करती और यदृच्छया प्रवाहित होनेवाली नदीके समान चलती है। यथार्थमें रागानुगा भक्ति ही मधुर भावकी मूलाधार है। राग शब्दकी व्याख्या करते हुए रूपगोस्वामीने लिखा है कि जैसे विषयी पुरुषोंका स्वभावतः विषयोंके प्रति, विषय वस्तुओंके प्रति इच्छासे युक्त आकर्षण होता है, उसी प्रकार भक्तका जब भगवानके प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, तब उसे राग कहते हैं। यह राग जहां प्रबल या प्रधान रहे उसे रागात्मिका भक्ति कहा जायगा। यह रागात्मिकता भक्ति उत्तम कोटिकी भक्ति मानी जाती है।

'अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥'

इस उत्तमा भक्तिके पुनः तीन भेद किये गये हैं—साधन भक्ति, भाव भक्ति, प्रेमा भक्ति। इसमें साधन भक्तिके दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा। रागानुगाके पुनः दो भेद हैं कामानुगा और सम्बन्धानुगा। इन भेद-प्रभेदोंके प्रपंचमें न पड़कर हमारा तात्पर्य केवल इतना है कि गौड़ीय सम्प्रदायमें माधुर्य भावका इतना व्यापक विस्तार हुआ कि परवर्ती साम्प्रदायिक भक्तों ने भी किसी-न-किसी रूपमें ग्रहण किया। माधुर्य भावकी भक्तिको शास्त्रीय रूप देनेके लिए 'भक्तिरसामृतसिंधु' में इसका रसानुवर्ती विवेचन हुआ। जैसे काव्य रसकी निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारीसे पुष्ट होकर होती है तथैव इसको भी रस रूपमें प्रस्तुत किया गया। कृष्ण भक्तिके आलम्बन विभागमें कृष्णको विषय माना गया। कृष्ण भक्ति आधार हुई। साधन और सिद्ध आदिका निरूपण हुआ। साधना तथा कृपासे यह भक्ति रस निष्पन्न माना गया। उद्दीपन विभावोंके वर्णनमें कृष्णके गुण, चेष्टा, प्रसाधन तथा अन्यान्य रूपोंका वर्णन किया गया। गुणोंके अन्तर्गत कायिक, वाचिक, मानसिकको स्थान मिला। तदनन्तर वय-भेद, रूप-भेद आदिका विस्तार किया गया। इसमें कैशोर अवस्थाको महत्त्व देकर उसका आद्य, मध्य, शेष आदि स्थितियोंमें वर्णन किया गया। गौड़ीय आचार्यों ने भक्ति रसमें मुख्यरूपसे शान्त, प्रीत, प्रेयस, वात्सल्य और मधुरको स्थान दिया। इनके भाव शान्ति, विश्वस्त, मित्रता, स्नेह, श्याम माने गये। इसीप्रकार वर्णों तथा देवताओं की भी कल्पना की गई। इस रसके परिपाकके लिए लीलाओंका वर्णन किया गया और प्रकट लीला और अप्रकट लीलाके रूपमें दो भेद किये गये। वन-वृन्दावन में प्रकट लीला, मन [illegible] अप्रकट लीला और नित्य-वृन्दावनमे नित्य लीला मानी गई

माधुर्य भावका विशद विवेचन करनेवाले ग्रन्थोंका उद्धरण या विवरण प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य नहीं है। उपर्युक्त विवरण केवल प्रासंगिक रूपसे इसलिए दिया है जिससे मध्ययुगीन माधुर्य भावकी रूपरेखा पाठकके अन्तर्मनमें उभर सके। मूल प्रश्न तो यह है कि यह माधुर्योपासना मर्यादाका उल्लंघन करनेवाली होने पर भी इस प्रकार ग्राह्य क्यों बनी रही और साधकोंकी विशाल परम्परा इसे क्यों स्वीकार करती रही। यथार्थमें इसका मूल कारण यह है कि भक्तिका यह मार्ग लौकिक जीवनका तिरस्कार नहीं करता। लोकको उसके यथार्थ रूपमें पाकर उसका शोधन करता है। वासनाओंको स्वीकार करते हुए वासनाओंके परिमार्जन, उन्नयन या शोधन की यह प्रक्रिया संसारके प्रत्येक देशके धर्मोंमें किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। इस पद्धतिका लक्ष्य है संसारको ग्रहण करते हुए मानव-मनमें लीन आनन्दको उद्‌बुद्ध करना। इन्द्रिय-दमनसे भी साधकको भगवत् प्रेम ही उपलब्ध करना होता है। उसका लक्ष्य भी यही है। माधुर्य भावसे चलनेवाला भी उसी लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। मनुष्य अपने समस्त प्रयत्नोंके बावजूद अपने भीतर बैठे हुए काम भावको सर्वथा उच्छिन्न या निरस्त नहीं कर पाता। अत यदि उसे साधन बनाकर उसका उन्नयन किया जाय तो उसका मार्ग प्रशस्त बन सकता है। उन्नयनकी भावना ही इसका लक्ष्य माना जा सकता है। सम्भवत. इसीलिए बौद्धों, तान्त्रिकों, शैवों, शाक्तों तथा सूफियों आदिने कामका तिरस्कार नही किया वरन् उसे दिव्य प्रेमकी उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित कर उसका पूरे समारोहके साथ उन्नयन करनेका प्रयत्न किया। माधुर्य भक्तिमें जिस प्रेमकी स्वीकृति है वह न तो यौन सम्बन्धसे उद्‌भूत कामेच्छापरक प्रेम माना गया है और न इस प्रेमको साधारण सामाजिक बन्धनका आधार ही कहा जा सकता है। इस प्रेमके सम्बन्धमें स्पष्ट कहा गया है कि वासनाजन्य प्रेममें स्वसुखकी कामनाका प्राधान्य रहता है, उसमें प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है। इस प्रेमको स्वसुख विवर्जित स्वीकार किया गया है। माधुर्यभाव प्रधान भक्तिमें परम्परा-प्राप्त मान्यताओंमें पूरा परिवर्तन किया गया। लोकमें शृंगार भावको, जो दाम्पत्य भावसे पूर्णतया संश्लिष्ट है, निम्नकोटिका माना जाता है। उसके ऊपर वात्सल्य भाव है, वात्सल्यसे ऊपर सख्य भावका स्थान है, सख्यसे ऊपर दास्य भाव है और दास्यसे ऊपर निर्वेदका परिपोषक शान्त भाव है। यह क्रम उत्तरोत्तर उत्कर्षकी दृष्टिमें स्वीकार किया जाता है, किन्तु माधुर्य भावमें इस क्रमका पूर्णतया विपर्यय दृष्टिगत होता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य यह क्रम उत्कर्ष-विधानकी दृष्टिसे ग्राह्य है। कान्ता भाव, दाम्पत्य भाव या शृंगार भाव एक ही भावके द्योतक हैं। मधुर या उज्ज्वल रस भी इसी भावके द्योतक शब्द है। दाम्पत्य भावके वर्णनमें स्वकीया-परकीया विवेचन भी हुआ। चैतन्य मतमें परकीया भावसे कान्ताकी स्वीकृति हुई। निम्बार्क सम्प्रदाय और बल्लभ सम्प्रदायमें स्वकीया भाव गृहीत हुआ। राधाबल्लभ सम्प्रदाय ने स्वकीया-परकीया भेद विवर्जित राधाका स्वरूप माना किन्तु लौकिक दृष्टिसे स्वकीया भाव ही इस सम्प्रदायमे दृष्टिगत होता है।

प्रेमलक्षणा भक्ति या माधुर्य भाव प्रधान भक्तिकी एक विशेषता यह है कि इसमें विधि निषेधके बाह्य प्रपंचोंसे मुक्ति मिल जाती है। विधि-निषेधका प्रपंच सदैव बाह्याडंबर म पर्यवसित होता है अत इससे बचकर यदि भक्तिका पथ प्रशस्त किया जाय तो निश्चय

ही वह सर्वजन-सुलभ और आकर्षक होगा। गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंके लिए भी इस मार्गमें और भी सुविधाएँ प्राप्त हैं। अपने दैनन्दिन जीवनकी अनुभूतियोंको भी इस पथ पर लाकर [illegible] करनेकी दिशामें भी इससे सहायता मिलना सम्भव है। राधा-कृष्णका [illegible] अपने लौकिक जीवनके दाम्पत्य भावके मूलमें देखा जा सकता है और [illegible] काम-वासनाओं का उन्नयन करते हुए भगवत्-प्राप्तिके मार्ग पर बढ़ा जा सकता है। किन्तु यह उन्नयन प्रक्रिया कहनेमें जितनी सरल है उतनी ही क्रियाभ्यासमें कठिन भी है। इस मार्गका रहस्य भली-भाँति हृदयंगम न करके यदि इसे सामान्य लौकिक काम वासनाके रूपमें ही ग्रहण किया जाय तो इसका समस्त माधुर्य और उदात्त तत्व कामकेलिके कर्दममें पंकिल होकर यौन भावनाओंकी तृप्ति तक ही सीमित रह जायगा। उस दशामें न तो शृङ्गारका उन्नयन ही सम्भव होगा और न साधककी आत्माका अभ्युदय ही हो सकेगा।

भक्तिके विकासके साथ परमात्माके प्रति अनुराग और प्रेमकी जैसी अभिव्यक्तियाँ हुई यदि उनके क्रमिक विकासका अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि महा-भारत कालमें परमात्माके प्रति भय और संभ्रमका ही भाव नहीं था वरन श्रद्धा, प्रेम और अनुरागका भाव भक्तके मनमें पूरी तरह आ चुका था। पाञ्चरात्र सम्प्रदायके अनेक ईश्वर की भक्तिके जो रूप स्वीकार किये थे उनमें प्रेम और अनुरागका विशेष स्थान था। भागवत सम्प्रदायके नामसे जो अन्य सम्प्रदाय महाभारत कालमें विद्यमान थे वे भी इस भावसे अप-रिचित नहीं थे। पुराण कालमें तो इस भावका प्राधान्य ही हो गया था। भागवत पुराणकी नवधा भक्तिके मूलमें इस भावका अंश सबसे अधिक मात्रामें है। आलवारों, सिद्धों, सह-जियों, सूफियों और निर्गुणियों तक में इस भावकी रेखाएँ मिलती हैं। इन रेखाओंके द्वारा पूरा चित्र उभारना यहाँ सम्भव नहीं है। अतः मोटी-मोटी बातोंकी ओर ही पाठकका ध्यान आकृष्ट किया गया है।

माधुर्य भक्तिके शास्त्रीय रूपका विकास चैतन्य मतके विद्वान गोस्वामियोंके ग्रन्थों द्वारा हुआ किन्तु उनके ग्रन्थ-प्रणयनमें मूल प्रेरक स्वयं चैतन्य महाप्रभु थे। उन्होंने स्वयं तो श्रीकृष्णकी लीलाओंमें निमग्न रहना स्वीकार किया, किन्तु अपने शिष्योंको प्रेरित किया कि वे भक्तिके शास्त्रीय रूपका प्रतिपादन करें और भक्तिके उज्ज्वल रूपको भावकजनोंके लिए शास्त्रके सुदृढ़ आधार पर खड़ा करें।

चैतन्य मत

चैतन्यके व्यक्तित्वमें प्रबल आकर्षण और उनके नेतृत्वमें विलक्षण सम्मोहन होने पर भी चैतन्य ने अपने नामसे किसी मत, पंथ या सम्प्रदायका प्रवर्तन नहीं किया। यदि उनके जीवनके समस्त कार्यों पर दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उनका जीवन-प्रवाह इतना दुर्द्धर्ष था कि जो कोई उनके सम्पर्कमें आया वह उसमें बह गया। फलतः उनके चारों तरफ़ सम्प्रदाय-जैसी गरिमा इकट्ठी होती गई और अनजाने ही चैतन्य मतका उदय हो गया। धर्म-प्रवर्तक या सम्प्रदाय खड़े करनेका उत्साह उनके भीतर प्रत्यक्ष या परोक्षमें कहीं नहीं था। यदि कुछ व्यक्तियों ने चैतन्यके मार्गको स्वीकार भी किया तो केवल उनके आकृष्ट होकर ही किया किसी या सिद्धान्तमें फँसकर

नही किया। चैतन्यका जीवन एक धर्मपरायण भक्तका जीवन है जो भगवानके सान्निध्यके ता उत्सुक है किन्तु उसके नाम पर किसी मठकी स्थापनामे उनका विश्वास नहीं चैतन्य ने स्वयं किसी ग्रन्थका प्रणयन नही किया। प्रस्थानत्रयी पर कोई भाष्य या टीका नहीं लिखी। श्रीमद्भागवत पुराणको ही वेदान्तका भाष्य, व्याख्या और टीका मानकर स्वीकार किया। चैतन्य ने कभी संगठनात्मक कार्योको भी प्रोत्साहन नहीं दिया। गयासे लौटनेके बाद उनके चारो तरफ जो शिष्य मण्डली या मित्र मण्डली जुट गई थी वह अनायास ही थी, किसी योजनाबद्ध तरीकेसे यह संगठन नही हुआ था। वस्तुत: चैतन्य सम्प्रदायका प्रवर्तन तो उनके शिष्यों द्वारा ही हुआ है जिसमें विशेष रूपमें बृन्दावनके षट् गोस्वामियोंका हाथ है। नवद्वीप की शिष्य मण्डलीमे भक्ति भावनाका प्राबल्य था, अत: उन लोगों ने चैतन्यके सिद्धान्तोके उद्घाटनका श्रम नही किया। वृन्दावनके रूप, सनातन आदि षट् गोस्वामी तत्त्ववेत्ता विद्वान् पंडित थे। उन्होंने शास्त्र-निर्माणका कार्य स्वीकार करते समय यह पूरी तरह ध्यानमें रखा कि भक्तिको शास्त्रीय तुला पर खरा सिद्ध करनेके लिए साहित्य शास्त्रकी परम्पराओकी अवहेलना सम्भव नही हो सकती।

चैतन्य सम्प्रदायके दार्शनिक सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें बहुत समय तक विवाद बना रहा। चैतन्य ने स्वय तो कुछ लिखा नहीं था और परवर्ती गोस्वामियों ने जो लिखा था वह भक्तिके स्वरूप-निर्धारणमें सक्षम होते हुए भी दार्शनिक दृष्टिमे सर्वथा अपुष्ट एव अव्यवहार्य था। यद्यपि चैतन्यके समयसे ही यह धारणा कुछ लोगोंकी बनी हुई थी कि चैतन्यके विचारोंका आधार माध्व दर्शन है, किन्तु इसका न तो कोई प्रमाण था और न व्यवहार पक्षमें ही यह धारणा घटित होती थी। हाँ, माधवेन्द्रपुरी, ईश्वरपुरी, और केशव-भारतीके माध्व होनेके प्रमाण थे, किन्तु उनके ग्रन्थोमें माध्व दर्शनकी स्थापना नहीं थी। कवि कर्णपूर-रचित 'गौर गणोद्देश दीपिका' में गुरुपरम्पराका संकेत है; वहाँ माध्वका उल्लेख होनेसे इन्हे माध्व मान लिया गया। वस्तुत: चैतन्यको माध्व सम्प्रदायके अन्तर्गत रखनेका प्रयत्न बलदेव विद्याभूषणके गोविन्दभाष्य और प्रमेय रत्नावली ग्रन्थों द्वारा प्रारम्भ हुआ। प्रमेय रत्नावलीमें गुरु-परम्परा भी दी गई है जो पूर्ण रूपेण ग्राह्य नही है।

इस सन्दर्भमें हम माध्व सम्प्रदायके सिद्धान्तों पर दृष्टि-निक्षेप करना आवश्यक समझते है। मध्वाचार्यके मतमें मोक्षके साधन अन्य आचार्योंसे भिन्न प्रकारके है। उनके मतमें मोक्षके लिए भेदपंचकका ज्ञान आवश्यक है। अर्थात् (१) ईश्वर और जीवका भेद, (२) ईश्वर और प्रकृतिका भेद, (३) प्रकृति और जीवका भेद, (४) प्राकृतिक पदार्थोंका परस्पर भेद, (५) जीवोंका परस्पर भेद। इस भेदपंचकके ज्ञानके बिना मोक्ष सम्भव नही है। मोक्षका सर्वप्रधान साधन भगवान्का साक्षात्कार है, और इस साक्षात्कारके कुछ उपाय वैराग्य, शम, शरणागति और परमात्माभक्ति हैं। परन्तु मोक्षमे भी जीव और ब्रह्मका अभेद नहीं हो सकता। इस प्रकार विशुद्ध द्वैतवादकी स्थापना कर वे उपनिषदोंमें उपलब्ध अभेद-परक वाक्योंकी संगति भिन्न प्रकारसे लगाते है। 'तत्वमसि'का अर्थ तस्य त्वं असि, अर्थात्—त्वं तदीयोसि है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'का अर्थ ब्रह्मविद् ब्रह्म सदृश हो जाता है ऐसा मानते हैं साक्षात् ब्रह्म होना नहीं मानते

माध्व सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका निरूपण एक श्लोकमें इस प्रकार पाया जाता है—

"श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो, जीवगणा हरेरनुचरा, नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला, भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैक वेद्यो हरिः॥"

अर्थात्—मध्वाचार्यके मतमें हरि (विष्णु) ही परतत्त्व हैं। जगत् सत्य है। भेद वास्तविक है, समस्त जीव हरिके अनुचर हैं, जीवोंमें ऊँच और नीचका तारतम्य है, आत्म वास्तविक सुखकी अनुभूति मुक्ति है, निर्मल भक्ति ही मोक्षका साधन है, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण ज्ञानके साधक हैं, वेदका समस्त तात्पर्य (श्रीहरि) विष्णु ही हैं। ये नौ सिद्धान्त मध्वाचार्यके मतमें स्वीकृत होते हैं।

'अचिन्त्य भेदाभेद दर्शन' की स्थापना करते हुए माध्वदर्शनका सहारा लेना स्वीकार किया गया है, किन्तु उसका सम्बन्ध माध्वके साथ स्थापित नहीं किया जा सकता। चैतन्यकी दार्शनिक विचारधाराका रूप अचिन्त्य भेदाभेदवादमें देखा जा सकता है।

अचिन्त्य भेदाभेदवाद

चैतन्य मतका दार्शनिक सिद्धांत 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहलाता है। जीव गोस्वामीने 'भगवत्सन्दर्भ' नामक ग्रन्थमें इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"स्वरूपाद भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वात् अभेदश्च प्रतीयत इति शक्ति-शक्तिमतोर्भेदाभेदौ अगीकृतौ। तौच अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्य भेदाभेदावेव अचिन्त्य शक्तित्वात्।" अर्थात् भगवान्में स्वरूप आदि शक्तियोंके अभिन्न होनेके कारण विचार करना शक्य न होनेसे भेद (प्रतीत होता) है और भिन्न होनेसे विचार करना शक्य न होनेसे अभेद प्रतीत होता है, इसलिए इनमें भेदाभेद स्वीकार किया है। वे दोनों अचिन्त्य हैं। इसलिए इस मतको अचिन्त्य भेदाभेद नाम दिया है। अचिन्त्य भेदाभेदको दार्शनिक रूप देते समय रूप गोस्वामी या जीव गोस्वामी के समक्ष माध्व-सम्प्रदायकी कोई दार्शनिक मान्यता नहीं थी। द्वैतवादकी दृष्टिमें स्वीकार इस सिद्धांतको स्वीकार नहीं किया गया। लघुभागवतामृतमें रूपगोस्वामीने लिखा है :—

"एकत्वंच पृथक्त्वंच तथांशत्वमुतांशिता।
तस्मिन्नेकत्र नायुक्तम् अचिन्त्यानन्तशक्तितः॥"

पुरुषोत्तम भगवान्को विभुचित् और जीवको अणुचित् माननेके कारण दोनोंमें चेतनता है, अतः अभिन्नता है। भगवान् विभु और जीव अणु है, अतः भेद है। फलतः भेदाभेद की सृष्टि सुतरां निष्पन्न हो जाती है। इस सिद्धातका व्यापक धरातल पर वर्णन बलदेव विद्याभूषणने 'गोविन्दभाष्य' में किया है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म पाँच तत्त्व स्थिर करते हुए ईश्वरको विभुचैतन्य, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र, मुक्तिदाता और विज्ञान रूप कहा है। ईश्वर जो जगत्का निमित्त और उपादान कारण है जगत्में परिणत होने पर भी स्वरूपसे अविकृत रहता है। जीव, अणु, चैतन्य, अनादि, मायामोहित और बद्ध है। ईश्वर-विमुख होनेसे बन्धनमें पड़ता है। ईश्वर-कृपासे जीव मुक्तिको प्राप्त होता है। उसे मुक्तिमें

ईश्वरके समान आनन्द तो प्राप्त होता है किन्तु ईश्वरसे पृथकत्व बना रहता है। प्रकृति नित्य और ब्रह्मकी शक्ति रूपा है। ब्रह्मके आश्रित रहती है। काल परिवर्तनशील जड़ द्रव्य है। प्रलय सृष्टिका निमित्त रूप है। कर्म अनादि, नश्वर और जड़ है। वह ईश्वरकी शक्ति का रूप है। मुक्तिका मुख्य साधन चैतन्यमतमें भक्तिको ही स्वीकार किया गया है। भक्ति के पांच भेद बताए गये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर।

विश्वनाथ चक्रवर्तीने चैतन्यमतके भक्ति-सिद्धान्तोंको एक श्लोकमें इस प्रकार व्यक्त किया है :

"आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धामवृन्दावनं,
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतप्रमाणममलंप्रेमापुमार्थोमहान्,
श्री चैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो न परः॥"

अर्थात्—भगवान् व्रजेशतनय (कृष्ण) चैतन्यमतमें आराध्य देव हैं, उनका धाम वृन्दावन है। उनकी उपासना-पद्धतिका आदर्श व्रजगोपियोंका सुन्दर उपासना-पद्धति है। श्रीमद्भागवतपुराण प्रमाण ग्रन्थ है और प्रेम ही जीवका परम पुरुषार्थ है।

चैतन्यमतके दार्शनिक तथा भक्ति विषयक सिद्धान्तोंके अनुशीलनसे यह तथ्य बहुत स्पष्ट रूपसे सामने आता है कि चैतन्यमतका मूलाधार माध्व सम्प्रदाय नहीं है। इन दोनों मतोंके दार्शनिक सिद्धांतोंमें पर्याप्त मौलिक मतभेद है, अतः इसे मध्वानुगामी मत सिद्ध करने का प्रयत्न चतुःसम्प्रदायकी परम्पराके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चैतन्यमतके सिद्धांतोंका प्रतिपादन करनेवाले रूप, सनातन और जीव गोस्वामीने माध्व परम्पराका कहीं अनुगमन नहीं किया। उन्होंने भक्तिका स्वरूप अपनी मौलिक सरणिसे स्थिर किया है। रूप गोस्वामी के ग्रन्थोंमें कहीं भी मध्वाचार्यकी चर्चा नहीं मिलती। उन्हें सम्प्रदाय-प्रवर्तक आदि आचार्य के रूप में कहीं स्वीकार नहीं किया गया। बलदेव विद्याभूषणके प्रयत्नोंसे चैतन्यमतको माध्व सम्प्रदायके अन्तर्गत रखा गया, यह ऐतिहासिक प्रमाणोंसे सिद्ध होता है। प्रबोधानन्द रचित चैतन्यचरितामृतकी टीका लिखते हुए आनन्दिनने स्पष्ट लिखा है :—

"श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु स्वयं भगवान् सम्प्रदाय प्रवर्तकाः।
तत्पार्षदा एव साम्प्रदायिका गुरवोनान्ये॥"

चैतन्यमतके इतिहास पर दृष्टि-निक्षेप करनेसे यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि बलदेव विद्याभूषणके 'गोविन्द भाष्य' लिखनेसे पूर्व बगालमें चैतन्यमतको एक स्वतन्त्र भक्ति-मार्ग समझा जाता था किन्तु बादमें इसे माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदायकी संज्ञा दी गई।[1]

रूप गोस्वामी :

चैतन्यमतके सैद्धांतिक तथा भक्तिपरक कर्मकाण्डके स्वरूपको स्थिर करनेमें वृन्दावन के छह गोस्वामियोंका प्रमुख योगदान रहा है। वस्तुतः सनातन और रूप गोस्वामीकी प्रतिभा से ही चैतन्यमतका धार्मिक तथा साहित्यिक रूप प्रकाशमें आया। जैसा कि हम पहले लिख

१ देखिए रा सिद्धान्त और साहित्य' डा० विजयेन्द्र पृष्ठ

चुके हैं कि चैतन्य गया से वापिस आनेके बाद अपने अध्ययन [illegible] से सर्वथा विमुख होकर भक्ति-भावनामें ही लीन रहने लगे थे। [illegible] प्रदर्शनके प्रति उनका कोई मोह नहीं रह गया था। [illegible] लेखनी या भाषणके द्वारा व्यक्त करना बन्द कर दिया था। [illegible] प्रक्रियामें भी उनकी रुचि नहीं रह गई थी। [illegible] शेष नहीं था। अतः अपने विचारोंके प्रसार-प्रचारके लिए उन्होंने [illegible] को वृन्दावन जानेकी प्रेरणा दी थी। इन दोनों भाइयोंके अतिरिक्त [illegible] रघुनाथ भट्ट और जीव गोस्वामीका नाम छह गोस्वामियोंमें है। [illegible] रूप गोस्वामीका संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

रूप गोस्वामीका जन्म संवत् १५४६ के लगभग हुआ था। रूप गोस्वामीके जीवन तथा ग्रन्थोंके सम्बन्धमें जीव गोस्वामीके ग्रन्थोंमें कुछ संकेत मिलते हैं। [illegible] जीवन-वृत्तान्त तथा प्रेमविलास ग्रन्थमें भी इनका वर्णन है। इन ग्रन्थोंके [illegible] होता है कि रूप गोस्वामीके पूर्वज कर्नाटक प्रान्तके रहनेवाले थे [illegible] अन्तमें बंगालमें आकर बस गये थे। बंगालमें बसनेके बाद [illegible] अपने ज्येष्ठ भ्राता सनातनके साथ रूप गोस्वामीने विद्याध्ययन [illegible] उच्च पद पर राजकर्मचारी नियुक्त हो गये। चैतन्य ही [illegible] समय इन दोनों भाइयोंकी रामकेलि नामक स्थानमें चैतन्यसे भेंट हुई और दोनों भाइयोंने [illegible] अनासक्ति व्यक्त करते हुए चैतन्यकी शरणमें रहनेकी इच्छा प्रकट की। उस समय तो चैतन्य इन्हें अपने साथ नहीं ले जा सके किन्तु बादमें जब उत्तर भारतकी यात्राके लिए निकले तब ये दोनों भाई भी विरक्त होकर उनके पास पहुँच गये। सरकारी नौकरीके समय इनके नाम या पदवी साकेर मलिक (सनातन) तथा दबिर खास (रूप) थे। इनका नाम परिवर्तन भी चैतन्यने ही किया था। रूप और सनातन गोस्वामीके वैराग्य [illegible] कथा प्रेमविलास ग्रन्थमें मिलती है, किन्तु उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। गौड़ देशके मुस्लिम शासकके यहाँ दोनों भाइयोंने चिरकाल तक कार्य किया था और जब ये विरक्त होकर अपना पद त्यागकर चलने लगे तो उन्हें विवश किया गया कि वे नौकरीसे [illegible] न जाएँ किन्तु उनकी अन्तर्प्रेरणा बलवती थी, संकल्प दृढ़ था और भगवानका [illegible] राजकीय नियन्त्रणसे प्रबल था। चैतन्यके सम्पर्कमें आनेसे पहले भी रूप गोस्वामीके मनमें भक्ति उमड़ती थी और उन्होंने कृष्णलीलापरक 'दान केलि कौमुदी' की रचना भी की थी, जो उनकी कृष्णभक्तिका प्रतीक है।

रूप गोस्वामीको दस मास तक चैतन्यके निकट सम्पर्कमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। चैतन्यकी विचारधाराको जितनी गहराईसे इन्होंने समझा और प्रतिपादित किया वैसा अन्य कोई शिष्य नहीं कर सका।

रूप गोस्वामी रचित १३ ग्रन्थोंका उल्लेख जीव गोस्वामीने तथा इनका जीवनवृत्त लिखने वाले अन्य लेखकोंने किया है, किन्तु भक्ति रत्नाकर ग्रन्थमें इनके बनाये हुए चार अन्य ग्रन्थोंके भी नाम उपलब्ध हैं। यदि उन्हें भी सूचीमें समाविष्ट कर लिया जाय तो ग्रन्थ-संख्या १७ होती है ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं

(१) हंसदूत (उद्धव संदेश ३ अष्टादश छन्द (४ उत्त ९ गोविन्द विरुदावलि आदि स्तोत्र, (५) विदग्धमाधव (नाटक), (६) दानकेलि कौमुदी (भाणिका), (७) भक्तिरसामृत सिन्धु (रसशास्त्र), (८) उज्ज्वल नीलमणि (रसशास्त्र) (९) मथुरा महिमा, (१०) पद्यावली, (११) नाटक चन्द्रिका (नाट्यशास्त्र), (१२) संक्षेपभागवतामृत (१३) ललितमाधव (नाटक)

चार अन्य ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) श्रीगणोद्देश दीपिका, (२) प्रयुक्ताख्यात चन्द्रिका (व्याकरण), (३) कृष्ण-जन्म-तिथि विधि (४) अष्टकालिक श्लोकावलि।

भक्तिरसामृत सिन्धु :

'भक्तिरसामृत सिन्धु' भक्तिरस-प्रतिपादक शास्त्रीय ग्रन्थ है जिसमें रूप गोस्वामीने साहित्य-शास्त्रमें स्वीकृत रसोंको भक्तिमें पर्यवसित किया है। भक्तिको मुख्य रस मानकर अन्य साहित्यिक रसोंको इसके अंग रूपमें वर्णित किया गया है। भक्तिको साहित्य-शास्त्रमें रस कोटिक स्थान प्राप्त न होनेसे रूप गोस्वामीका इस ग्रन्थके प्रणयनमें यह उद्देश्य प्रधान रूपसे रहा है कि रसके समस्त उपकरणोंको इस रूपसे भक्तिमें घटित किया जाय कि भक्ति को रस रूप प्रदान करनेमें काव्यशास्त्रीय दृष्टिसे किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित न हो। विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंका यथावत् ध्यान रखते हुए स्थायी भाव भगवद्रतिकी स्थापना करके भक्तिरसको साहित्यिक धरातल पर खड़ा किया गया है।

'भक्तिरसामृत सिन्धु' नाम रखकर रूप गोस्वामीने इस विशाल ग्रन्थको समुद्रके रूपमें ही विभाजित भी किया है। प्राचीन कालमें चार दिशाओंमें स्थित चार समुद्रोंकी कल्पना की गई थी। कालिदासके 'पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां' पदमें यह कल्पना स्पष्ट लक्षित है। इसी कल्पनाके आधार पर रूप गोस्वामीने भी चार अध्यायोंके नाम—पूर्व विभाग, दक्षिण विभाग, पश्चिम विभाग और उत्तर विभाग रखे हैं। 'पूर्व विभाग' आदि शब्द अध्यायोंके लिए और अवान्तर विभाजनके लिए 'लहरी' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'पूर्व विभाग' में भक्ति-सामान्यके भेदोंका निरूपण है। पहली लहरीमें सामान्याभक्ति, दूसरी लहरीमें साधनभक्ति, तीसरी लहरीमें भावाश्रित भक्ति और चौथी लहरीमें प्रेमनिरूपिका भक्तिका वर्णन है।

पूर्व विभाग :

प्रथम लहरीमें सामान्याभक्तिका वर्णन करते हुए भक्तिका स्वरूप, लक्षण तथा तटस्थ लक्षण प्रस्तुत किया है। अन्य किसीकी अभिलाषासे शून्य ज्ञान और कर्म आदिसे अनाच्छादित सर्वथा अनुकूल भावनासे श्रीकृष्णका अनुशीलन ही भक्ति है। पुनः इसके छह विशेषण प्रस्तुत किये गए हैं—क्लेशोंका नाश करनेवाली (क्लेशघ्नी), कल्याणोंको प्रदान करनेवाली (शुभदा), मोक्षको भी तुच्छ बना देनेवाली (मोक्षलघुताकृत), अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त होनेवाली (सुदुर्लभा), अपरिमेय आनन्द-विशेषसे परिपूर्ण (सान्द्रानन्दविशेषात्मा), और भगवान्‌को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली (श्रीकृष्णाकर्षणी)। तदनन्तर क्लेश, सुख, मोक्ष आनन्द दुर्लभत्व तथा श्रीकृष्णके विस्तारपूर्वक बताया गया है

दूसरी लहरीमें 'साधनभक्ति'का विस्तारपूर्वक वर्णन है। साधनभक्तिका लक्षण करते हुए बताया गया है कि जो भक्ति साधकके इन्द्रियोंसे किए जा सकनेवाली हो और जिसके द्वारा भावरूपा भक्तिकी सिद्धि हो सकती हो, वह साधनभक्ति कहलाती है। वैधी और रागानुगा भेदसे यह दो प्रकारकी होती है। वैधी भक्तिका लक्षण इस प्रकार है— "जिस भक्तिमें स्वाभाविक रागके न होनेसे केवल शास्त्रकी आज्ञासे [illegible] प्रवृत्ति होती है वह वैधी भक्ति कहाती है।" वैधी भक्ति समस्त वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तथा समस्त आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) के लोगोंको करनी चाहिए। वैधी भक्तिके उत्तम, मध्यम और कनिष्ट भेदसे तीन प्रकारके अधिकारी बताये गए हैं। शास्त्र और तर्कमें निपुण, निश्चय पर दृढ़ रहने वाला, और श्रद्धा समन्वित व्यक्ति उत्तम कोटिका भक्त है। शास्त्रमें निपुण न होनेपर भी श्रद्धावान व्यक्ति मध्यम कोटिका अधिकारी होता है। शास्त्रमें अनिपुण और दुर्बल श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति कनिष्ठ कोटिका अधिकारी कहाता है। इसी प्रसंगमें मोक्षकी स्पृहा न रखकर [illegible] भक्तोंका पुराण आदि ग्रन्थोंके आधारपर लेखकने विस्तारसे वर्णन किया है। [illegible] प्रयत्न रहा है कि वह भक्तिकी तुलनामें मुक्तिको तुच्छ [illegible]। भक्तिके अधिकारीका वर्णन करते हुए कहा है कि भागवत पुराण आदि शास्त्रोंके अनुसार भक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। शूद्र कहे जाने वाले व्यक्ति भी भक्तिके अधिकारी [illegible]। "अन्त्यजा अपिनद्राष्ट्रे शंखचक्रांक धारिणः। सम्प्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव सम्बभुः।" (पृष्ठ २९)। भक्तिके अधिकारियोंको भक्तिके अंगोंका अनुष्ठान न करने पर दोष होता है किन्तु प्रायश्चित्तादि रूप कर्मोंके न करनेपर दोष नहीं होता। प्रायश्चित्त [illegible] वैधी भक्तिमें अनिवार्य नहीं समझा गया। इसके बाद वैधी भक्तिके साधन अंगोंका सोदाहरण वर्णन किया गया है। इस वर्णनमें विविध पुराणोंसे उदाहरणोंका [illegible] लेखकने भक्तिके अंगोंका प्रतिपादन किया है। तदनन्तर भक्तिमें [illegible] की है—"सम्मतं भक्ति विज्ञानां भक्त्यंगत्वं न कर्मणाम्।" ज्ञान और वैराग्यको भक्ति के अनुकूल न समझकर इन दोनोंको भक्तिका अंग नहीं माना है। ज्ञान और वैराग्य दोनों चित्तकी कठोरताके हेतु हैं इसलिए सुकुमार स्वभाववाली भक्तिके ये [illegible] नहीं है। योगशास्त्रके यम-नियमादि भी भक्तिके अंग नहीं है। शास्त्र-प्रतिपादित [illegible] मर्यादासे युक्त होनेके कारण वैधी भक्तिको 'मर्यादा मार्ग' भी कहते हैं।

साधनभक्तिका दूसरा भेद 'रागानुगाभक्ति' कहलाता है। रागानुगाभक्तिका [illegible] लक्षण प्रस्तुत करनेसे पूर्व लेखकने रागात्मिका भक्तिका संकेत दे दिया है। व्रजकी गोपियोंमें स्पष्ट रूपसे विराजमान रागात्मिका (भावरूपासाध्य) भक्तिका अनुसरण करने वाली जो भक्ति है वह 'रागानुगा' भक्ति कहलाती है। श्रीकृष्ण (इष्टदेव) में स्वाभाविक रूपसे परम आकर्षणका नाम 'राग' है। जो भक्ति रागमयी है उसे रागात्मिका कहा जाता है। वह रागात्मिका भक्ति 'कामरूपा' और 'सम्बन्धरूपा' भेदसे दो प्रकारकी है। कामरूपा भक्ति वह है जिसमें भक्त गोपियों आदिकी सम्भोग-तृष्णाको अपना अंग बना लेता है। इसमें काम-तृष्णाके द्वारा अपने सुखकी प्राप्तिके लिए नहीं अपितु केवल कृष्ण सुखके लिए ही यत्न किया जाता है यह भक्ति व्रजगोपियोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध रूपसे पाई जाती

है रागात्मिका भक्तिका दूसरा भेद सम्बन्धरूपा है कृष्णके प्रति पितृत्व आदिके अभिमान को सम्बन्धरूपा भक्ति कहते हैं। इस भक्तिके उदाहरण नन्द, आभीर आदि हैं। नन्द आदिकी कृष्णमें ईश्वरत्व बुद्धि न होनेसे पितृत्वादि रूपेण रागकी ही प्रधानता है।

रागात्मिका भक्तिका यह प्रसंग आंशिक रूपमें यहाँ बीचमें प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः लेखकको रागानुगा भक्तिका विवेचन अभीष्ट है, उसीकी पृष्ठभूमिके रूपमें यह प्रसंगतः लिखा है। रागानुगा भक्तिका आधार राग तत्त्व है, अतः रागात्मिकाके समान इसके भी वे ही दो भेद कामरूपा और सम्बन्धरूपा है। कृष्णके प्रति प्रेमका लोभ जिसके हृदयमें हो वही रागानुगा भक्तिका अधिकारी है। स्त्री और पुरुष दोनोंको समान रूपमें रागानुगा भक्तिका अधिकारी बताया गया है।

तीसरी लहरीमें भावभक्तिका निरूपण किया गया है। मनकी विशुद्ध सत्वप्रधान अवस्थाका नाम 'भाव' है। इस अवस्थाका उदय होनेपर चित्तमें विशेष प्रकारकी आर्द्रता उत्पन्न होती है, इसलिए ग्रन्थकारने इसे 'चित्तमासृण्यकृत' कहा है। जब भक्ति वैधी और रागानुगा साधन (भक्ति) के अभ्याससे विशुद्ध सत्वप्रधान, और चित्तमें विशेष प्रकारके द्रवीभावको उत्पन्न करनेवाली बन जाती है तब उसको भाव कहते है। प्रेमरूप सूर्यकी किरणोंके समान, अपनी कांतियोंके द्वारा चित्तके द्रवीभाव (मासृण्य) को उत्पन्न करनेवाला, शुद्ध सत्त्व विशेष रूप वह (सामान्य भक्ति ही) भाव नामसे व्यवहृत होती है। (पृष्ठ ९१) प्रेमकी प्रथम अवस्था भाव कही जाती है। इसमें अश्रु, रोमांच आदि सात्विक भाव स्वल्प मात्रामें प्रकट होते है। यह भावभक्ति भगवान्‌की कृपा अथवा उनके भक्तोंकी कृपाका फल है। साधनोंके अनुष्ठानसे भी भावभक्तिका उदय होता है। इस प्रकार भावभक्तिके दो भेद हैं—साधनाभिनिवेशजन्य तथा भगवत्कृपाजन्य। भावभक्ति उत्पन्न होनेके बाद भक्तमें कुछ बाह्य चिह्न भी प्रकट होते हैं जिन्हें अनुभाव कहते हैं। भावभक्तिके अनुभाव इस प्रकार हैं—शान्ति (सहनशीलता), समयको व्यर्थ न खोना, वैराग्य, अभिमान-शून्यता, आशा, समुत्कण्ठा, नामकीर्तनमें रुचि, भगवान्‌के गुणगानमें प्रेम, भगवान्‌के वासस्थानमें प्रेम। भावभक्तिके वर्णनका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकारने मुमुक्षुओंमें भक्तिका अभाव सिद्ध किया है और उनके भगवत्प्रेमको रत्याभास तथा भावाभासके अन्तर्गत रखा है। योग और मोक्ष रूप कामनाओंसे परिपूर्ण मुमुक्षुको शुद्ध भगवत् रति प्राप्त नहीं होती।

चौथी लहरीमें प्रेमभक्तिका निरूपण किया गया है। भक्तिके प्रारम्भमें साधनभक्ति और साध्यभक्ति दो भेद किए थे। साधनभक्तिके पुनः दो भेद वैधी और रागानुगा भक्ति किए। साध्यभक्तिके भावभक्ति और प्रेमभक्ति दो भेद हैं। भाव और प्रेम दोनों साध्यभूत है। भावभक्ति प्रारम्भिक दशा है और प्रेमभक्ति उससे उच्चतर दशाका नाम है। प्रगाढ और प्रबल भावका नाम ही प्रेम है। प्रेमका लक्षण ग्रन्थकारने इस प्रकार किया है—"अन्तःकरणको अत्यन्त द्रवीभूत करा देनेवाला और अत्यधिक ममतासे युक्त सान्द्र भाव ही प्रेम नामसे व्यवहृत होता है।" प्रेमके दो भेद हैं—एक अपने पूर्ववर्ती भावसे उत्पन्न तथा दूसरा भगवान्‌की अत्यन्त लोकोत्तर कृपासे उत्पन्न। साधकोंके मनमें प्रेमके उत्पन्न होनेकी क्रमिक दशाओंका वर्णन करते हुए लिखा है कि सबसे पहले श्रद्धाकी उत्पत्ति होती है

तदनन्तर साधु संग, भजन क्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और अन्तमें प्रेम ।

दक्षिण विभाग :

इस विभागमें ग्रन्थकारने साहित्य-शास्त्रकी रस-प्रक्रियाका अनुसरण कर भक्तिको स्वतन्त्र रस सिद्ध करनेका यत्न किया है । भरतमुनिके 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः' इस सूत्रके आधार पर रस-विवेचन किया जाता है । इस रससूत्र के अनुसार रसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्तिमें विभाव, अनुभाव, संचारी भाव स्थायी भाव और सात्विक भावकी आवश्यकता होती है । साहित्य-शास्त्रके इस रस-सिद्धान्तको भक्तिमें चरितार्थ करनेके लिए रूप गोस्वामीने इस विभागमें भक्तिरसका सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है । इसी दृष्टिसे उन्होंने इस विभागका विभाजन पाँच लहरियोंमें किया है । यह भगवद्भक्ति-रस-निरूपक विभाग है ।

> "सामग्री परिपोषेण परमा रसरूपता ।
> विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ॥
> स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।
> एषा कृष्णरतिः स्थायीभावोभक्ति रसोभवेत् ॥"
>
> —भक्तिरसामृत सिन्धु दक्षिणविभाग,
> लहरी १, श्लोक ५-६ ।

अर्थात्—सामग्री (विभाव, अनुभाव आदि रूप) के द्वारा पुष्ट होनेसे इस पूर्वकथित भगवद्भक्ति (कृष्णरति) की परम रसरूपताका उत्पादन करते हैं । विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव तथा व्यभिचारिभावोंके द्वारा श्रवण (मनन) आदिकों सहायतासे भक्तोंके हृदयमें आस्वाद्यताको प्राप्त हुआ यह भगवद्भक्ति (कृष्ण रति) रूप स्थायिभाव कहलाता है ।

भक्तिरसका प्रतिपादन करनेके बाद भक्तिरस और आश्रय और अन्य प्रकारका वर्णन करते हुए लिखा है कि साधनरूपा वैधीभक्तिके द्वारा जिनके दोषोंका शमन हो गया है, ऐसे प्रसन्न और निर्मल चित्तवाले रसिकजनोंके संसर्गमें मग्न रहनेवाले भगवान्‌में अनुरक्त भक्तोंके हृदयमें, पूर्वजन्म तथा इस जन्मके संस्कारोंसे उत्पन्न आनन्दरूपा रति ही आस्वाद्य योग्यताको प्राप्त होकर, कृष्ण रूप विभावके द्वारा देखनेसे प्रौढ़ आनन्दके चमत्कारकी पराकाष्ठाको प्राप्त होती है, उसीका नाम भक्तिरस है ।

साहित्यशास्त्रके आधार पर रति आदिके कारण, कार्य तथा सहकारियोंको क्रमश विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावके नामसे कहा जाता है, उसी प्रकार भक्तिरसमें भी ये स्वीकृत होते हैं । रति आस्वादनके जो कारण हैं वे विभाव कहलाते हैं । ये दो प्रकारके होते हैं—एक आलम्बन और दूसरे उद्दीपन । कृष्ण और उनके भक्त आलम्बन विभाव हैं क्योंकि वे रतिके विषय तथा रतिके आधार होते हैं । कृष्णको साहित्यशास्त्रके धीरोदात्त नायकके समान अनेक गुणोंवाला बताया गया है । समस्त ६४ गुणोंका विस्तारसे परिगणन करके उन्हें चार भागोंमें विभक्त किया गया है । पुन इन ६४ गुणोंके उदाहरण प्रस्तुत

किये गए हैं तदन तर धीरोदात्त धीरललित धीरप्रश त और धारोद्धत श्रीकृष्ण नायक) का सोदाहरण वणन है इसी प्रसगमे श्रीकृष्णको १८ दोपोसे रहित तथा आठ गुणोसे युक्त बताया गया है।

कृष्ण-भक्तोंका वर्गीकरण करते हुए उन्हें साधक और सिद्ध दो भेदोंमे रखा गया है। जिनके भीतर कृष्णप्रेम तो पूरी तरह उत्पन्न हो गया है किन्तु निर्विघ्नताको जो प्राप्त नही हुए हैं वे 'साधकभक्त' कहलाते है। बिल्मंगल इसी साधक कोटिके भक्त है। 'सिद्धभक्त' वह है जो किसी प्रकारके क्लेश (पचक्लेश) का अनुभव न करता हुआ, भगवदर्पणबुद्धिमे कार्यरत, सतत प्रेम सुखका आस्वादन करता है। ये सिद्धभक्त दो प्रकारके होते है—सम्प्राप्तसिद्ध और नित्यसिद्ध। कृष्णभक्तोंका दूसरी प्रकारसे भी वर्गीकरण किया गया है जिसमें पाँच प्रकारके भक्त माने गये है—विरक्त, दासपुत्र, मित्र, गुरुवर्ग और प्रेयसीवर्ग।

भक्तिरसके उद्दीपन विभावके वर्णनमें उद्दीपनकी परिभाषा करते हुए लिखा है कि जो भगवान्के प्रति प्रेमको उद्दीप्त करें वे उद्दीपन विभाव कहलाते है और वे श्रीकृष्णके 'गुण', 'चेष्टा' तथा 'अलंकरण' तीन प्रकारके होते है। गुण तीन प्रकारके हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। चेष्टामे रासलीला तथा दुष्टोंका वध आदि चेष्टाएँ है। अलकरण मे वस्त्रविन्यास, प्रसाधन, आकल्प आदि हैं। इन समस्त उद्दीपनोंका सोदाहरण विस्तारसे इस लहरीमें ग्रंथकारने वर्णन किया है।

दूसरी लहरीमें अनुभावोंका वर्णन है। साहित्य-शास्त्रमें अनुभाव शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए 'अनुपश्चात् भवन्तीति अनुभावाः' कहा गया है। भक्तिशास्त्रमें अनुभावोंका प्रयोजन वही है जो साहित्यशास्त्रमें है। रूप गोस्वामीकी व्याख्या इस प्रकार है—'अनुभाव तो चित्तमें स्थित मुख्य भावोंके बोधक होते हैं। वे प्रायः बाह्य विक्रिया रूप होते हैं और 'उद्भासुर' नामसे कहे जाते हैं। अनुभावके दो भेद हैं— शीत और क्षेपण। पाँच अनुभाव शीत हैं तथा आठ अनुभाव क्षेपण है। गाना, जँभाई लेना, लम्बी साँस भरना, लोककी परवाह न करना और लार टपकाना शीत हैं; शेष आठ नाचना, लोटना, चिल्लाना, देह मरोड़ना, हुंकार भरना, अट्टहास करना, चक्कर आना और हिचकी आना ये क्षेपण हैं। इस लहरीमें इन समस्त अनुभावोंके उदाहरणपूर्वक लक्षण आदि प्रस्तुत किये गए हैं।

तीसरी लहरीमें सात्विक भावोंका वर्णन है। सत्वकी परिभाषा करते हुए ग्रंथकारने लिखा है—''साक्षात् अथवा कुछ थोड़े व्यवधानसे कृष्ण-सम्बन्धी भावोसे आक्रान्त चित्तको सत्व कहा जाता है। इस सत्वसे जो भाव उत्पन्न होते हैं वे सात्विक भाव कहलाते है। सात्विक भाव तीन प्रकारके हैं— स्निग्ध, दिग्ध तथा रूक्ष।'' इनकी संख्या साहित्यशास्त्रके समान आठ ही है। किन्तु स्निग्ध, दिग्ध तथा रूक्षका विभाजन सर्वथा मौलिक है। इसके अतिरिक्त सात्विक भावोंके प्रभावका भी नवीन शैलीसे वर्णन मिलता है। जहाँ केवल एक ही सात्विक भाव रहता है वहाँ धूमायित, जहाँ दो या तीन सात्विक भाव रहते है वहाँ ज्वलित, जहाँ तीन-चार या पाँच सात्विक भाव रहते हैं वहाँ दीप्त, और जहाँ छह या आठों सात्विक भाव उपस्थित रहते हैं वहाँ उद्दीप्त की स्थिति होती है। जहाँ उत्तेजना बहुत लम्बे काल तक (भूरिकालव्यापी) व्याप्त रहती है और समस्त अंगोंमें (बह्वंगव्यापी) फैल जाती है या अपने चरम उत्कर्ष पर (स्वरूपेण उत्कर्ष होती है उसको भक्तिरसमें पृथक रूपसे वर्णित

किया गया है। ऐसा विभाजन साहित्यशास्त्रमें नहीं हुआ है। इसी ग्रन्थमें सत्त्वाभासोंका भी वर्णन हुआ है जो सात्त्विक भावोंसे मिलते जुलते हैं। ये चार प्रकारके हैं—१. रत्याभास, २ सत्वाभास, ३. निःसत्व, ४. प्रतीप भाव।

चौथी लहरीमें व्यभिचारी भावोंका वर्णन है। व्यभिचारियोंको संचारी नामसे पुकारा जाता है। ग्रंथकारने व्यभिचारिभावकी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है

विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति।
वागङ्गसत्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपि ते॥

अर्थात्—विशेष रूपसे और स्थायिभावके प्रति अनुकूलतासे गमन करते हैं (अर्थात् 'विशेषेण, आभिमुख्येन च स्थायिनं प्रति चरन्ति', इस व्युत्पत्तिके अनुसार व्यभिचारिभाव कहलाते हैं)। वाचिक, आंगिक और सात्विक रूप जो ३३ भाव हैं व्यभिचारिभाव कहलाते है और वे स्थायिभावकी गतिका सञ्चालन करते हैं इसलिए इन्हें संचारिभाव भी कहते है।

साहित्यशास्त्रके समान भक्तिरस शास्त्रमें भी ३३ सञ्चारियोंको स्वीकार किया गया है। उनकी संख्या इस प्रकार है—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा सुप्ति और बोध। इनके अतिरिक्त १३ संचारियोंका वर्णन और है किन्तु उनका ३३ के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। इन सञ्चारियोंका वर्गीकरण इस ग्रंथमें विविध प्रकारसे किया गया है। उन्हें उस स्थितिमें स्वतन्त्र माना गया है जबकि वे स्थायिभावसे पृथक्, स्वतन्त्र रूपसे विकासको प्राप्त होते है। दूसरे स्थान पर उन्हें परतन्त्र भी कहा गया है, जबकि वे स्थायिभावके अनुवर्ती होकर आते हैं, परतन्त्र हैं। अनुवर्ती होकर आया हुआ संचारिभाव साक्षात् या व्यवहित होगा अथवा दो भिन्न रसोंके अधीन होगा। स्वतन्त्र संचारिभाव या तो रति शून्य (स्थायीके सम्पर्कसे रहित) होगा या रति संभिन्न (स्थायीका संकेत देनेवाला) होगा। अन्तमें भावोंके प्रातिकूल्य तथा अनौचित्यका विचार करनेके बाद इस लहरीका उपसंहार भावोत्पत्ति, भावशबलता और भावशान्ति के वर्णनके साथ होता है।

पाँचवी लहरीमें स्थायिभावोंका सविस्तार वर्णन किया गया है। स्थायी भावकी परिभाषा निम्न प्रकार है—

"अविरुद्धान विरुद्धांश्च भावान् यो वशतांनयन्।
सुराजेत विराजेत स स्थायीभाव उच्यते॥"

अर्थात्—जो भाव अविरुद्ध और विरुद्ध भावोंको अपने वशमें करके, उत्तम राजाके समान शोभित होता है वह स्थायिभाव कहलाता है। भक्तिशास्त्रमें श्रीकृष्ण विषयक रति ही 'स्थायिभाव' है। यह रति दो प्रकारकी है—मुख्यारति और गौणीरति। रूप गोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में स्थायिभाव तथा रसोंका स्वरूप तो वही स्वीकार किया है जो साहित्यशास्त्रमें स्वीकृत है अर्थात् नौ रस तथा नौ उनके स्थायिभाव, किन्तु उनका वर्गीकरण और व्यवहार भिन्न प्रकारसे किया है

पद्धतिमे मूल [illegible] यह अनमति है जो [illegible]

ीकार करती है अर्थात श्रीकृष्णविषया रति ही स्थायी है साहित्यशास्त्रके नौ स्थायि
ावाका श्री तिके आधारपर ही आँका जाता है कृष्णरतिके मुख्य स्थायिभावों
था गौण स्थायिभावोंका रूप गोस्वामीने अपनी शैलीसे वर्गीकरण किया है जो निम्नलिखित
लिकाके आधारपर हृदयंगम किया जा सकता है :—
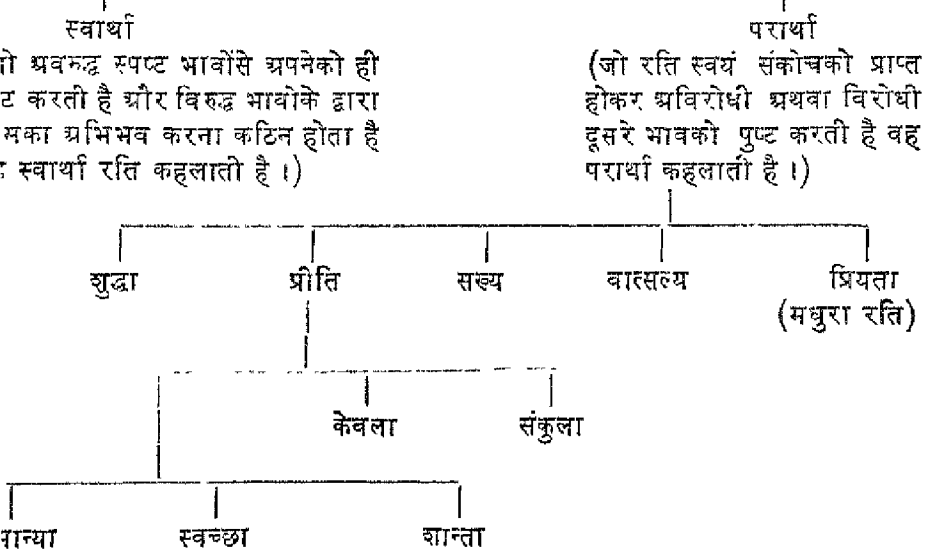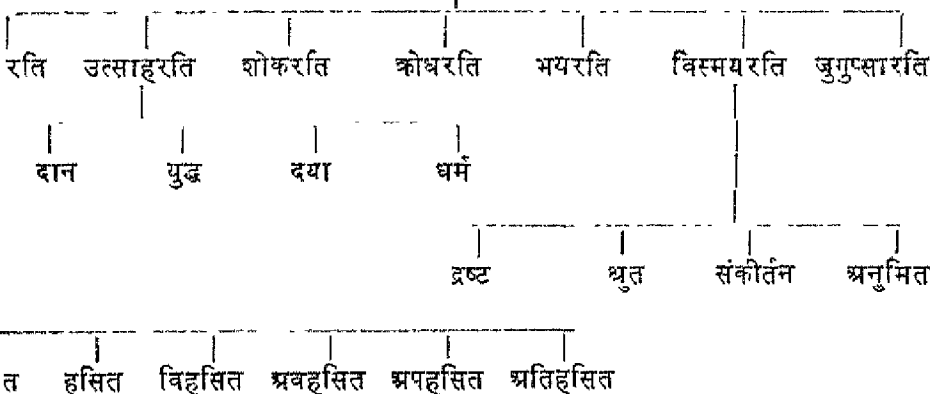
१ मुख्य भक्तिरस

२ गौण भक्तिरस

हास्य अद्भुत वीर करुण रुद्र भयानक बीभत्स

पश्चिम विभाग :

पश्चिम विभाग पाँच लहरियोंसे विभक्त है। इस विभागका प्रतिपाद्य मुख्य भक्ति-रसोंका वर्णन है। शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल और मधुर भक्ति ये पाँच मुख्य भक्तिरस स्वीकार किये गए है। प्रत्येक लहरीमें एक-एक रसका सांगोपांग निरूपण किया गया है।

प्रथम लहरी :

प्रथम लहरीमे शान्त भक्तिरसका वर्णन है। शान्त रसका लक्षण इस प्रकार है :

"वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतांगतः।
स्थायी शान्तिरति धीरैः शान्ति भक्तिरसः स्मृतः॥
प्रायःस्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम्।
किन्त्वात्मसौख्यमघनं घनत्वीशमयं सुखम्॥"

—पृष्ठ ३१५, ४-५।

अर्थात्—विभावादिके द्वारा शान्तिरूप स्थायिभाव शमप्रधानोंके आस्वादका विषय होकर शान्ति भक्तिरस नामसे कहलाता है। इस शान्तरसमें योगियोंको प्रायः (स्वसुख-जातीय) आत्मसाक्षात्कारात्मक निर्विशेष ब्रह्मास्वादसहोदर सुख प्राप्त होता है। किन्तु (विशेषता यह होती है कि) आत्मसाक्षात्कारका सुख घनत्वहीन होता है और भगवत्साक्षा-त्कारमय (ईशमयं सुखं अर्थात्) सुख घनत्वमय होता है।

चतुर्भुज कृष्ण तथा शान्त भगवद्भक्त इसके आलम्बन विभाव होते है। उपनिषद् श्रवण, एकान्तसेवन, अन्तर्मुखीवृत्ति, कृष्णरूपकी स्फूर्ति, तत्त्वविवेचन, विद्याकी प्रधानता, शक्तिकी प्रधानता, विश्वरूपका दर्शन, ज्ञानी भावोंका सम्पर्क, ब्रह्मसत्र (ब्रह्मसभा, ब्रह्मचर्चा) ये दस उद्दीपन विभाव कहलाते है।

शान्तरसके अनुभाव इस प्रकार है—नासिकाके अग्रभागपर नेत्र जमाये रहना, त्यागियोंके समान व्यापार करना, चार-पाँच हाथकी दूरी तक देखते हुए चलना, ज्ञानकी-सी मुद्राका प्रदर्शन, कृष्णके शत्रुओंसे भी द्वेष न करना, कृष्णके प्रियोंमें भी अधिक भक्तिका न रखना, सिद्धत्व तथा जीवनमुक्तिके प्रति अधिक आदर होना, उदासीनता, किसीके प्रति ममताका न रखना, अहकारका अभाव, तथा मौन आदि क्रियाएँ शान्त भक्तिके अनुभाव हैं।

शान्त भक्तिरसके सात्विकभाव हैं—प्रलय अर्थात् मूर्च्छाको छोड़कर रोमांच, स्वेद, कम्प आदि। निर्वेद, धृति, मति, हर्ष, स्मृति, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, वितर्क आदि संचारिभाव हैं।

शान्त भक्तिरसका स्थायिभाव 'शान्ति' है। यह समा और सान्द्रा भेदसे दो प्रकार को होती है भक्तिरस परोक्षात्मक तथा सा त्मक दो प्रकारका है शान्तिरसके

बिना मनुष्यकी बुद्धि भगवान् निष्ठ नहीं हो सकती अतः शान्तरसकी स्वीकृति अनिवार्य आवश्यक है

दूसरी लहरी

दूसरी लहरीमें प्रीतिभक्ति रसका वर्णन है। प्रीतिभक्तिरसका लक्ष प्रकार है :

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम् ।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीतिभक्तिरसोमतः ॥

अर्थात् अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा भक्तोंके हृदयमें आस्वादन योग प्राप्त हुई प्रीति ही 'प्रीतिभक्तिरस' कहलाती है। इसके दो भेद हैं—सम्भ्रम प्रीति गौरवप्रीति। अपनेको दास माननेवाले भक्तोकी कृष्णके विषयमें सम्भ्रमतरा (भयरि प्रीति होती है। इस सम्भ्रमप्रीतिके आलम्बन विभाव कृष्ण तथा उनके दास हो कृष्ण आलम्बन गोकुलवासियोंके लिए द्विभुज तथा अन्य लोगोंके लिए कहीं द्विभु कहीं चतुर्भुज कृष्ण है। आश्रय रूपमें दास भी चार प्रकारके हैं—अधिकृत, अ पारिषद् और अनुगामी। इनमें अधिकृतको छोड़कर शेष तीन प्रकारके दासोंके ती होते हैं—नित्यसिद्ध, सिद्ध तथा साधक।

प्रीतिभक्तिके उद्दीपन विभावमें अनुग्रहकी सम्प्राप्ति, चरणधूलिकी प्राप्ति, उच्छिष्टान्नका ग्रहण तथा उनके भक्तोंकी संगति विशेष रूपसे उद्दीपक माने जा अनुभावोंके अन्तर्गत कृष्णके प्रति अपने कर्त्तव्योका सर्वतोभावेन स्वीकार करना, कृष्ण के प्रति ईर्ष्यालवसे रहित मैत्रीभाव तथा सर्वात्मना कृष्णनिष्ठ होकर रहना है।

सम्भ्रम प्रीतिभक्ति में रसके स्तम्भादि समस्त सात्विक भाव गृहीत होते है। चारिभावोंमें हर्ष, गर्व, धृति, निर्वेद, दैन्य, विषाद, चिन्ता, स्मृति, शंका, मति, औ चपलता, वितर्क, आवेग, लज्जा, जाड्य, मोह, उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, श्रम, और मरणको स्वीकार किया जाता है। मद आदि शेप आठ व्यभिचारी भाव इसमे पोषक नहीं होते।

सम्भ्रम प्रीतिरसका स्थायिभाव कृष्णकी प्रभुता-ज्ञानके कारण चित्तमें आदर कम्प होता है। उससे अभिन्न प्रीति ही सम्भ्रम प्रीति है, वही स्थायिभाव है। यह स प्रीति ही उत्तरोत्तर विकासको प्राप्त होती हुई प्रेम, स्नेह और राग तीन प्रकारकी होत इस सम्भ्रम प्रीतिके अयोग और योग दो भेद और किये गए हैं।

गौरवप्रीतिका लक्षण है :—

"लाल्याभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिर्गौरवोत्तरा ।
सा विभावादिभिः पुष्टा गौरवप्रीति उच्यते ॥"

अर्थात्—अपनेको कृष्णका कृपापात्र माननेवालोंमें (लाल्याभिमानिनां) कृष्णके गौरवप्रधान प्रीति होती है, वही विभावादिकों द्वारा परिपुष्ट होकर 'गौरव प्रीति' कह । 'गौरव प्रीति' के आलम्बन विभाव कृष्ण तथा कृष्णके कृपापात्र (लाल्य) आश्रय आर ाते हैं इस भक्तिके उद्दीपन विभावोंमें कृष्णका भक्तोंके प्रति और मुस्क

२ गौण भक्तिरस

हास्य	अद्भुत	वीर	करुण	रौद्र	भयानक	बीभत्स

पश्चिम विभाग :

पश्चिम विभाग पाँच लहरियोंमें विभक्त है। इस विभागका प्रतिपाद्य मुख्य भक्ति-रसोंका वर्णन है। शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल और मधुर भक्तिमें पाँच मुख्य भक्तिरस स्वीकार किये गए हैं। प्रत्येक लहरीमें एक-एक रसका सांगोपांग निरूपण किया गया है।

प्रथम लहरी :

प्रथम लहरीमें शान्त भक्तिरसका वर्णन है। शान्त रसका लक्षण इस प्रकार है :

> **"वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतांगतः।**
> **स्थायी शान्तिरतिर्धीरैः शान्ति भक्तिरसः स्मृतः॥**
> **प्रायःस्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम्।**
> **किन्त्वात्मसौख्यमघनं घनत्वीशमयं सुखम्॥"**
>
> —पृष्ठ २१८, ८-९।

अर्थात्—विभावादिके द्वारा शान्तिरूप स्थायिभाव शमधारियोंके आस्वादका विषय होकर शान्ति भक्तिरस नामसे कहलाता है। इस शान्तरसमें योगियोंको प्रायः (स्वसुख-जातीय) आत्मसाक्षात्कारात्मक निर्विशेष ब्रह्मास्वादसहोदर सुख प्राप्त होता है। किन्तु (विशेषता यह होती है कि) आत्मसाक्षात्कारका सुख घनत्वहीन होता है और भगवत्साक्षा-त्कारमय (ईशमयं सुखं अर्थात्) सुख घनत्वमय होता है।

चतुर्भुज कृष्ण तथा शान्त भगवद्भक्त इसके आलम्बन विभाव होते हैं। उपनिषद् श्रवण, एकान्तसेवन, अन्तर्मुखीवृत्ति, कृष्णरूपकी स्फूर्ति, तत्त्वविवेचन, विद्याकी प्रधानता, शक्तिकी प्रधानता, विश्वरूपका दर्शन, ज्ञानी भक्तोंका सम्पर्क, ब्रह्मसत्र (ब्रह्मज्ञ, ब्रह्मचर्चा) ये दस उद्दीपन विभाव कहलाते हैं।

शान्तरसके अनुभाव इस प्रकार हैं—नासिकाके अग्रभागपर नेत्र जमाये रखना, त्यागियोंके समान व्यापार करना, चार-पाँच हाथकी दूरी तक देखते हुए चलना, ज्ञानकी-सी मुद्राका प्रदर्शन, कृष्णके शत्रुओंसे भी द्वेष न करना, कृष्णके प्रियोंमें भी अधिक आसक्ति न रखना, सिद्धत्व तथा जीवनमुक्तिके प्रति अधिक आदर होना, उदासीनता, किसीके प्रति ममताका न रखना, अहंकारका अभाव, तथा मौन आदि क्रियाएँ शान्त भक्तिके अनुभाव हैं।

शान्त भक्तिरसके सात्विकभाव हैं—प्रलय अर्थात् मूर्च्छाको छोड़कर रोमांच, स्वेद, कम्प आदि। निर्वेद, धृति, मति, हर्ष, स्मृति, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, वितर्क आदि सचारिभाव हैं।

शान्त भक्तिरसका स्थायिभाव शान्ति है यह समा मोग सा द्वा भवत दो प्रकार की होती है भक्तिरस परोक्षात्मक तथा रात्मक दो प्रकारका है। शान्तिरसके

बिना मनष्यकी बुद्धि भगवन्निष्ठ नही हो सकती अत शांतिरसकी स्वीकृति अनिवार्य रूपसे आवश्यक है।

दूसरी लहरी :

दूसरी लहरीमें प्रीतिभक्ति रसका वर्णन है। प्रीतिभक्तिरसका लक्षण इस प्रकार है :

आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम्।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीतिभक्तिरसोमतः॥

अर्थात् अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा भक्तोके हृदयमें आस्वादन योग्यताको प्राप्त हुई प्रीति ही 'प्रीतिभक्तिरस' कहलाती है। इसके दो भेद है—सम्भ्रम प्रीति और गौरवप्रीति। अपनेको दास माननेवाले भक्तोकी कृष्णके विषयमें सम्भ्रमतरा (भयमिश्रित) प्रीति होती है। इस सम्भ्रमप्रीतिके आलम्बन विभाव कृष्ण तथा उनके दास होते है। कृष्ण आलम्बन गोकुलवासियोंके लिए द्विभुज तथा अन्य लोगोंके लिए कहीं द्विभुज और कहीं चतुर्भुज कृष्ण हैं। आश्रय रूपमें दास भी चार प्रकारके हैं—अधिकृत, आश्रित, पारिषद् और अनुगामी। इनमें अधिकृतको छोड़कर शेप तीन प्रकारके दासोंके तीन भेद होते है—नित्यसिद्ध, सिद्ध तथा साधक।

प्रीतिभक्तिके उद्दीपन विभावमें अनुग्रहकी सम्प्राप्ति, चरणधूलिकी प्राप्ति, उनके उच्छिष्टान्नका ग्रहण तथा उनके भक्तोंकी संगति विशेप रूपसे उद्दीपक माने जाते है। अनुभावोंके अन्तर्गत कृष्णके प्रति अपने कर्त्तव्योका सर्वतोभावेन स्वीकार करना, कृष्णभक्तो के प्रति ईर्ष्यालवसे रहित मैत्रीभाव तथा सर्वात्मना कृष्णनिष्ठ होकर रहना है।

सम्भ्रम प्रीतिभक्ति में रसके स्तम्भादि समस्त सात्विक भाव गृहीत होते है। व्यभिचारिभावोंमें हर्ष, गर्व, धृति, निर्वेद, दैन्य, विषाद, चिन्ता, स्मृति, शंका, मति, औत्सुक्य, चपलता, वितर्क, आवेग, लज्जा, जाड्य, मोह, उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, श्रम, व्याधि और मरणको स्वीकार किया जाता है। मद आदि शेप आठ व्यभिचारी भाव इसमें अधिक पोपक नहीं होते।

सम्भ्रम प्रीतिरसका स्थायिभाव कृष्णकी प्रभुता-ज्ञानके कारण चित्तमे आदर सहित कम्प होता है। उससे अभिन्न प्रीति ही सम्भ्रम प्रीति है, वही स्थायिभाव है। यह सम्भ्रम प्रीति ही उत्तरोत्तर विकासको प्राप्त होती हुई प्रेम, स्नेह और राग तीन प्रकारकी होती है। इस सम्भ्रम प्रीतिके अयोग और योग दो भेद और किये गए हैं।

गौरवप्रीतिका लक्षण है :—

"लाल्याभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिर्गौरवोत्तरा।
सा विभावादिभिः पुष्टा गौरवप्रीति उच्यते॥"

अर्थात्—अपनेको कृष्णका कृपापात्र माननेवालोंमें (लाल्याभिमानिनां) कृष्णके प्रति गौरवप्रधान प्रीति होती है, वही विभावादिकों द्वारा परिपुष्ट होकर 'गौरव प्रीति' कहलाती है। 'गौरव प्रीति' के आलम्बन विभाव कृष्ण तथा कृष्णके कृपापात्र (लाल्य) आश्रय आलम्बन होते हैं इस भक्तिके उद्दीपन विभावोंमें कृष्णका भक्तोंके प्रति वात्सल्य और

देखना आदि माने जाते हैं। अनुभावोंमें प्रणाम करना, शान्त रहना, आज्ञाधीन रहना, विनयका बाहुल्य, आज्ञा पालन, सिर नीचा रखना, स्थिरता, खाँसी और हँसीका परित्याग, कृष्णकी गुप्त क्रीड़ा आदिसे दूर रहना आदि हैं। सात्त्विक भाव स्तम्भादि माने जाते हैं। पूर्व वर्णित व्यभिचारी भाव गौरव प्रीतिमें भी स्वीकृत होते हैं।

कृष्णमें पितृत्व या गुरुत्व बुद्धिसे जो भाव पैदा होता है और उनके लाल्योंमें कृष्णके प्रति जो स्वाभाविक गौरव-भावना आदि है वही गौरव प्रीति रूप स्थायिभावको पुष्ट करने वाली होती है। इसके प्रेम, स्नेह और राग तीन भेद होते हैं तथा अयोग वियोग भेदसे यह दो प्रकारकी होती है।

तीसरी लहरी :

तीसरी लहरीमें 'प्रेयोभक्ति' का वर्णन है। प्रेयोभक्ति (सख्यभक्ति) का लक्षण इस प्रकार है :—

> **स्थायीभावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।**
> **नीतिश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते॥**
>
> —[illegible]

अर्थात्—सख्यरूप स्थायिभाव अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा सहृदयोंके चित्तमें पुष्टिको प्राप्त होकर प्रेयान् (प्रेयोभक्ति) रस कहलाता है।

प्रेयोभक्ति रसके आलम्बन कृष्ण तथा उनके सखा माने जाते हैं। कृष्णको यहाँ द्विभुजके रूपमें स्वीकार किया जाता है। कृष्ण बुद्धिमान, चतुर, दयालु, क्षमाशील, लोकप्रिय, समृद्धिशाली, वाग्मी पण्डित हैं।

आलम्बन विभावमें सखागण माने जाते हैं जो रूप, वेश, गुण आदिमें कृष्णके समान, विश्वस्त हृदयवाले और अधिक नियन्त्रणसे रहित होते हैं। उन मित्रगणोंके पुरजन, व्रजजन, सुहृत् आदि भेदोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

प्रेयोभक्ति रसके उद्दीपन विभावमें कृष्णकी आयु, रूप, शृंग, बांसुरी और शंख हैं। कृष्णका हास्य-विनोद, पराक्रम, राजा, देवता, अवतार आदिकी लीलाओंका अनुकरण भी उद्दीपन है। उद्दीपन विभावके अन्तर्गत कृष्णकी आयुका वर्णन तीन रूपोंमें किया गया है : कौमार, पौगण्ड, कैशोर। इन तीनों अवस्थाओंका सोदाहरण निरूपण है।

प्रेयोभक्तिरसके अनुभावोंमें कन्दुक क्रीड़ा, द्यूतक्रीड़ा, कुश्ती, वाद्य, सवारी आदि द्वारा कृष्णको प्रसन्न करनेका वर्णन रहता है। अनुभावोंमें और भी अनेक प्रकारकी क्रीड़ा-लीलाओंका परिगणन किया गया है। स्तम्भादि सात्त्विक भाव प्रेयोभक्तिमें भी स्वीकृत होते हैं। उनमें कोई परिवर्तन या नवीनता नहीं है।

प्रेयोभक्तिके स्थायिभावका लक्षण निरूपित करते हुए कहा गया है कि भय आदि का प्रसंग उपस्थित होने पर उस भयकी गंध से भी रहित रतिको प्रणय स्थायिभाव कहते हैं। उसके भी प्रेम, स्नेह, राग तीन भेद हैं।

प्रीति भक्तिरस तथा वत्सल भक्तिरसमें कृष्ण तथा उनके भक्त दोनोंके स्नेहकी भिन्नता रहती है—एक आत्मीयता नहीं होती—इसलिए चार रसोंमें प्रेयोभक्तिरस ही सब

देखना आदि माने जाते है। अनुभावोंमें प्रणाम करना, [illegible] [illegible] रहना, विनयका बाहुल्य, आज्ञा पालन, सिर नीचा रखना, [illegible] [illegible] और [illegible] परित्याग, कृष्णकी गुप्त क्रीड़ा आदिसे दूर रहना आदि है। सात्त्विक भाव [illegible] माने जाते हैं। पूर्व वर्णित व्यभिचारी भाव गौरव प्रीतिमें भी [illegible] होते हैं।

कृष्णमें पितृत्व या गुरुत्व बुद्धिसे जो भाव पैदा होता है और [illegible] [illegible] प्रति जो स्वाभाविक गौरव-भावना आदि है वही गौरव प्रीति [illegible] [illegible] पुष्टि [illegible] वाली होती है। इसके प्रेम, स्नेह और राग तीन भेद होते हैं तथा [illegible] [illegible] यह दो प्रकारकी होती है।

तीसरी लहरी :

तीसरी लहरीमें 'प्रेयोभक्ति' का वर्णन है। प्रेयोभक्ति (सख्यभक्ति) का लक्षण इस प्रकार है :—

> स्थायीभावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
> नीतिश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते॥
>
> —[illegible]

अर्थात्—सख्यरूप स्थायिभाव अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा सहृदयोंके चित्तमें पुष्टिको प्राप्त होकर प्रेयान् (प्रेयोभक्ति) रस कहलाता है।

प्रेयोभक्ति रसके आलम्बन कृष्ण तथा उनके सखा माने जाते हैं। कृष्णको यहाँ द्विभुजके रूपमें स्वीकार किया जाता है। कृष्ण बुद्धिमान, चतुर, दयालु, [illegible], [illegible], समृद्धिशाली, वाग्मी पण्डित है।

आलम्बन विभावमें सखागण माने जाते हैं जो रूप, वेश, गुण आदिमें [illegible] समान, विश्वस्त हृदयवाले और अधिक नियन्त्रणसे रहित होते हैं। इन मित्रगणोंके पुरजन, व्रजजन, सुहृत् आदि भेदोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

प्रेयोभक्ति रसके उद्दीपन विभावमें कृष्णकी आयु, रूप, [illegible], [illegible] और [illegible] हैं। कृष्णका हास्य-विनोद, पराक्रम, राजा, देवता, अवतार आदिकी [illegible] [illegible] भी उद्दीपन हैं। उद्दीपन विभावके अन्तर्गत कृष्णकी आयुका वर्णन तीन प्रकार किया गया है — कौमार, पौगण्ड, कैशोर। इन तीनों अवस्थाओंका सोदाहरण निरूपण है।

प्रेयोभक्तिरसके अनुभावोंमें कन्दुक क्रीड़ा, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] आदि द्वारा कृष्णको प्रसन्न करनेका वर्णन रहता है। अनुभावोंमें और भी अनेक प्रकारकी प्रणय-लीलाओंका परिगणन किया गया है। स्तम्भादि सात्त्विक भाव प्रेयोभक्तिमें भी [illegible] होते हैं। उनमें कोई परिवर्तन या नवीनता नहीं है।

प्रेयोभक्तिके स्थायिभावका लक्षण निरूपित करते हुए कहा गया है कि भय आदि का प्रसंग उपस्थित होने पर उस भयकी गंध से भी रहित रतिको प्रणय स्थायिभाव कहते हैं। उसके भी प्रेम, स्नेह, राग तीन भेद हैं।

प्रीति भक्तिरस तथा वत्सल भक्तिरसमें कृष्ण तथा उनके भक्त दोनोंके [illegible] [illegible] रहती है—एक जातीयता नहीं होती—इसलिए सारे रसोंमें प्रेयोभक्तिरस ही सब

प्रिय माना जाता है। सख्यभावपूर्ण हृदयवाले सहृदय ही उसका अनुभव कर सकते है।

चौथी लहरी

चौथी लहरीमें वत्सल भक्तिरसका वर्णन है। वत्सल भक्तिरसको वात्सल्य शब्दसे भी व्यवहृत किया जाता है। कृष्ण और उनके गुरुजन इस रसके आलम्बन विभाव है। मितभाषी, सरल प्रकृति, लज्जाशील, विनयी, पूजनीय जनोंका आदर करनेवाला कृष्ण इस रस में आलम्बन होता है। उन गुणोंसे युक्त कृष्णको ईश्वर रूपके प्रभावसे रहित रूपमें ज्ञान होनेपर ही विभाव माना जाता है। वात्सल्य रसका उद्दीपन विभाव कौमार आयु, रूप, वेष, शैशवका चापल्य, बात करना, मुस्कराना, लीला आदि को माना जाता है। उद्दीपनमें कृष्णकी कौमार तथा पौगण्ड आयुकी लीलाओंका वर्णन किया जाता है। स्तम्भादि नौ सात्त्विक भाव तथा अपस्मार सहित प्रीति भक्तिरसमे वर्णित व्यभिचारी भाव इसमें गृहीत होते हैं। स्थायी भावका लक्षण इस प्रकार है :—

"सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायीभावो निगद्यते॥"

अर्थात् —अनुकम्पा करनेवाले गुरुजनोंकी अनुकम्पनीयके प्रति भयादिसे रहित जो रति होती है उसीको यहाँ (वत्सल रसमें) वात्सल्य नामक स्थायिभाव कहते है।

वत्सलको रस स्वीकार करनेवाले नाट्यशास्त्रके पंडित भी है, उनके मतमें वत्सल रसका स्थायिभाव वत्सलता है और पुत्रादि इसके आलम्बन विभाव हैं।

पंचम लहरी

पाँचवी लहरीमें मधुर भक्तिरसका वर्णन है। मधुर भक्तिरसका लक्षण इस प्रकार है :—

"आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीतासतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः॥१॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते॥२॥"

अर्थात्—अपने अनुरूप विभावादिकोंके द्वारा सहृदयोंके हृदयमें पुष्टिको प्राप्त मधुरा रतिको 'मधुर भक्ति रस' कहा जाता है। विरक्त जनोंके लिए उपयोगी न होनेसे, दुरूह होनेसे और गोप्य होनेके कारण विस्तृत अंगोवाला होनेपर भी उसका वर्णन किया जाता है। इस मधुर भक्ति रसमें कृष्ण तथा उनकी प्रिय सुन्दरियाँ आलम्बन विभाव होती हैं। उनकी प्रेयसियोंमें राधा सबसे मुख्य है—'प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी।' उद्दीपन विभावमें मुरलीध्वनि आदि है तथा कटाक्ष, स्मित आदि अनुभाव हैं। मधुर भक्ति ही मधुर भक्तिरसका स्थायिभाव है। राधा और कृष्णकी यह रति सजातीय अथवा विजातीय किसी प्रकारके भावोंसे कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। सम्भोग तथा विप्रलम्भ भेदसे यह रस दो प्रकारका होता है। इस भक्ति रसकी सामग्री ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार साहित्य-शास्त्रमें शृङ्गार रसकी स्वीकृत होती है

देखना आदि माने जाते है। अनुभावोंमें प्रणाम करना, शान्त रहना, [illegible] रहना, विनयका बाहुल्य, आज्ञा पालन, सिर नीचा रखना, स्थिरता, [illegible] परित्याग, कृष्णकी गुप्त क्रीड़ा आदिसे दूर रहना आदि है। सात्त्विक भाव [illegible] माने जाते हैं। पूर्व वर्णित व्यभिचारी भाव गौरव प्रीतिमें भी स्वीकृत होते हैं।

कृष्णमें पितृत्व या गुरुत्व बुद्धिसे जो भाव पैदा होता है और [illegible] कृष्णके प्रति जो स्वाभाविक गौरव-भावना आदि है वही गौरव प्रीति [illegible] वाली होती है। इसके प्रेम, स्नेह और राग तीन भेद होते हैं तथा [illegible] यह दो प्रकारकी होती है।

तीसरी लहरी :

तीसरी लहरीमें 'प्रेयोभक्ति' का वर्णन है। प्रेयोभक्ति (सख्यभक्ति) का लक्षण इस प्रकार है :—

स्थायीभावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
नीतिश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते॥

—[illegible]

अर्थात्—सख्यरूप स्थायिभाव अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा सहृदयोंके [illegible] पुष्टिको प्राप्त होकर प्रेयान् (प्रेयोभक्ति) रस कहलाता है।

प्रेयोभक्ति रसके आलम्बन कृष्ण तथा उनके भक्त माने जाते हैं। कृष्णको यहाँ द्विभुजके रूपमें स्वीकार किया जाता है। कृष्ण बुद्धिमान, चतुर, दयालु, क्षमाशील, लोकप्रिय, समृद्धिशाली, वाग्मी पण्डित हैं।

आलम्बन विभावमें सखागण माने जाते है जो रूप, वेश, गुण आदिमें कृष्णके समान, विश्वस्त हृदयवाले और अधिक नियन्त्रणसे रहित होते हैं। इन [illegible] पुरजन, व्रजजन, सुहृत् आदि भेदोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

प्रेयोभक्ति रसके उद्दीपन विभावमे कृष्णकी आयु, रूप, [illegible] और [illegible] हैं। कृष्णका हास्य-विनोद, पराक्रम, राजा, देवता, अवतार आदिकी [illegible] भी उद्दीपन है। उद्दीपन विभावके अन्तर्गत कृष्णकी आयुका वर्णन तीन रूपोंमें किया गया है — कौमार, पौगण्ड, कैशोर। इन तीनों अवस्थाओंका सोदाहरण [illegible] गया है।

प्रेयोभक्तिरसके अनुभावोंमें कन्दुक क्रीड़ा, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] आदि द्वारा कृष्णको प्रसन्न करनेका वर्णन रहता है। अनुभावोंमें और भी अनेक प्रकारकी [illegible] लीलाओंका परिगणन किया गया है। स्तम्भादि सात्त्विक भाव प्रेयोभक्तिमें भी गृहीत होते हैं। उनमें कोई परिवर्तन या नवीनता नहीं है।

प्रेयोभक्तिके स्थायिभावका लक्षण निरूपित करते हुए कहा गया है कि भय आदि का प्रसंग उपस्थित होने पर उस भयकी गंध से भी रहित रतिको प्रणय स्थायिभाव कहते हैं। उसके भी प्रेम, स्नेह, राग तीन भेद हैं।

प्रीति भक्तिरस तथा वत्सल भक्तिरसमें कृष्ण तथा उनके भक्त दोनोंके स्नेहकी भिन्नता रहती है—एक जातीयता नहीं होती इसलिए सारे रसोंमें प्रेयोभक्तिरस ही सर्व

भिन्न गाया जाना सत्त्वभावपूर्ण हृदयवाले सहृदय ही उसका अनुभव कर सकते है।

चौथी लहरी

चौथी लहरीमें वत्सल भक्तिरसका वर्णन है। वत्सल भक्तिरसको वात्सल्य शब्दसे भी व्यवहृत किया जाता है। कृष्ण और उनके गुरुजन इस रसके आलम्बन विभाव है। मितभाषी, सरल प्रकृति, लज्जाशील, विनयी, पूजनीय जनोंका आदर करनेवाला कृष्ण इस रस में आलम्बन होता है। इन गुणोंसे युक्त कृष्णको ईश्वर रूपके प्रभावसे रहित रूपमे ज्ञात होनेपर ही विभाव माना जाता है। वात्सल्य रसका उद्दीपन विभाव कौमार आयु, रूप वेष, शैशवका चापल्य, बात करना, मुस्कराना, लीला आदि को माना जाता है। उद्दीपनमें कृष्णकी कौमार तथा पौगंड आयुकी लीलाओंका वर्णन किया जाता है। स्तम्भादि नौ सात्विक भाव तथा अपस्मार सहित प्रीति भक्तिरसमें वर्णित व्यभिचारी भाव इसमें गृहीत होते हैं। स्थायी भावका लक्षण इस प्रकार है :—

"सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायीभावो निगद्यते ॥"

अर्थात्—अनुकम्पा करनेवाले गुरुजनोंकी अनुकम्पनीयके प्रति भयादिसे रहित जो रति होती है उसीको यहाँ (वत्सल रसमें) वात्सल्य नामक स्थायिभाव कहते हैं।

वत्सलको रस स्वीकार करनेवाले नाट्यशास्त्रके पंडित भी है, उनके मतमें वत्सल रसका स्थायिभाव वत्सलता है और पुत्रादि इसके आलम्बन विभाव हैं।

पंचम लहरी

पाँचवीं लहरीमें मधुर भक्तिरसका वर्णन है। मधुर भक्तिरसका लक्षण इस प्रकार है :—

"आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीतासतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥१॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते ॥२॥"

अर्थात्—अपने अनुरूप विभावादिकोंके द्वारा सहृदयोंके हृदयमें पुष्टिको प्राप्त मधुरा रतिको 'मधुर भक्ति रस' कहा जाता है। विरक्त जनोंके लिए उपयोगी न होनेसे, दुरूह होनेसे और गोप्य होनेके कारण विस्तृत अंगोवाला होनेपर भी उसका वर्णन किया जाता है। इस मधुर भक्ति रसमें कृष्ण तथा उनकी प्रिय सुन्दरियाँ आलम्बन विभाव होती हैं। उनकी प्रेयसियोंमें राधा सबसे मुख्य है—'प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी।' उद्दीपन विभावमें मुरलीध्वनि आदि हैं तथा कटाक्ष, स्मित आदि अनुभाव हैं। मधुर भक्ति ही मधुर भक्तिरसका स्थायिभाव है। राधा और कृष्णकी वह रति सजातीय अथवा विजातीय किसी प्रकारके भावोंसे कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। सम्भोग तथा विप्रलम्भ भेदसे यह रस दो प्रकारका होता है। इस भक्ति रसकी सामग्री ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार साहित्य-शास्त्रमें शृङ्गार रसकी स्वीकृत होती है

उत्तर विभाग

भक्तिरसामृतसिन्धुका चौथा अध्याय 'उत्तर विभाग' है। इस विभागमें नौ लहरियाँ हैं जिनमें प्रथम सात लहरियोंमें सात गौण रसोंका तथा आठवीं लहरीमें रसोंकी परस्पर मैत्री तथा वैर-स्थितिका और नवी लहरीमें रसाभासोंका वर्णन किया गया है।

इन सात गौण भक्तिरसोंके आलम्बन विभाव पूर्वोक्त पांच प्रकारके भक्तगण ही कहीं एक और कहीं अनेक भक्तगण होते हैं। सबसे प्रथम हास्य रसका निरूपण किया गया है। हास्य रति छह प्रकारकी मानी गई है—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित अपहसित तथा अतिहसित। उत्तम पात्रोंमें स्मित तथा हसित; मध्यम पात्रोंमें विहसित तथा अवहसित; और नीच पात्रोंमें अपहसित तथा अतिहसित भेद रहते हैं। इन छहों भेदों का सोदाहरण स्वरूप भी इस लहरीमें विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है।

दूसरी लहरीमें अद्भुत भक्तिरसका वर्णन है। अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा भक्तके चित्तमें आस्वाद्यताको प्राप्तवह लोकप्रसिद्ध विस्मय रतिको अद्भुत रस कहते हैं। इसमें सब प्रकारके भक्त विस्मयके आश्रय हो सकते हैं, किन्तु लोकोत्तर क्रियाओंके हेतु कृष्ण ही उसके आलम्बन विभाव होते है। कृष्णकी विशेष प्रकारकी चेष्टा उद्दीपन तथा नेत्रोंका फैलना, अश्रु, रोमांच आदि अनुभाव हैं। आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं। यह रस साक्षात् तथा अनुमित रूपसे दो प्रकारका होता है।

तीसरी लहरीमें वीर भक्तिरसका वर्णन है। साहित्यशास्त्रके अनुसार उत्साह रति अपने अनुरूप विभाव आदि के द्वारा आस्वादकी योग्यताको प्राप्त कराई जानेपर वीर रस भक्ति कहलाती है। वीर भक्तिरस चार प्रकारका होता है—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर। कृष्णको प्रसन्न करनेके लिए युद्धमें उत्साह रखनेवाला मित्र या कोई विशेष सम्बन्धी **युद्धवीर** कहलाता है। कभी कृष्ण स्वयं अथवा कभी उनके प्रेरक रूपमें स्थित होनेपर उनकी इच्छासे कोई दूसरा उत्तम मित्र प्रतियोद्धा होता है। प्रतियोद्धामें रहनेवाले आत्मश्लाघा, ताल ठोकना, अस्त्र उठाना आदि इस वीर रसमें उद्दीपन होते हैं। चार प्रकारके वीर भक्तिरसोंमें सभी सात्विक वृत्तिके होते हैं। दानवीरमें कृष्णके लिए अपना सर्वस्व दान कर देनेवाला बहुप्रद **दानवीर** कहलाता है। दानवीरोंके भी अनेक भेदोंका इस प्रसंगमें वर्णन किया गया है। कारुण्य के कारण द्रवीभूत होकर जो कृष्णको अपना शरीर टुकड़े-टुकड़े करके अर्पित करदे वह **दयावीर** कहलाता है। दया का उत्कर्ष करानेवाला उत्साह दयोत्साह कहलाता है। वही इस रसका स्थायिभाव होता है। मयूरध्वज राज्य इसका उदाहरण है। बोपदेवने दयावीरको दानवीरके भीतर ही रखा है और तीन भेद स्वीकार किये हैं।

धर्मवीर वह भक्त है जो केवल कृष्णको प्रसन्न रखनेके लिए धर्मानुष्ठानमें लगा रहता है। धर्मोत्साह रतिको विद्वान् इसका स्थायिभाव मानते हैं। धनिक नामक आचार्यने इस धर्मवीर भेदको पृथक् स्वीकार नहीं किया है।

चौथी लहरीमें करुण भक्तिरसका प्रतिपादन है। करुण भक्तिरसमें सर्वदा आनन्दसे परिपूर्ण होनेपर भी विशेष प्रेमके कारण कृष्ण और उनके प्रिय इस रसमें अनिष्टप्राप्तिके पात्र अर्थात् करुण रसके विभाव रूपमें प्रतीत होते हैं। कृष्ण, उनके प्रियजन तथा

तीमरा वह जिसने कृष्ण भक्तिका सुख प्राप्त नहीं किया है इस भक्तिके आलम्बन विभा कहे जाते हैं रोना चिल्लाना पृथ्वीपर गिरना लोटना छाती पीटना आदि सात्विक भाव होते हैं। हृदयमेंसे अंशतः शोक रूपमें परिणत हुई रति शोकरति कहलाती है और वही इसमें स्थायिभाव मानी जाती है।

पंचम लहरीमें रौद्र भक्ति रसका वर्णन है। कृष्ण, कृष्णके मित्र तथा कृष्णके शत्रु, ये तीनों क्रोधके विषय (आलम्बन) होते हैं। कृष्णके विषयमें सखी तथा वृद्धा आदि क्रोधके आश्रय (कृष्णपर क्रोध करनेवाले) होते हैं। इस रसमें क्रोध रति स्थायिभाव होता है। यह क्रोध तीन प्रकारका माना गया है—क्रोध, मन्यु तथा रोप। कोप शत्रुके प्रति होता है, बान्धवोंके प्रति मन्यु तथा प्रियतमके प्रति स्त्रियोंका क्रोध रोप कहलाता है। कृष्णके प्रति शिशुपाल आदि शत्रुओंका क्रोध रतिके अभावमें भक्तिरसताको प्राप्त नहीं होता।

छठी लहरीमें भयानक भक्तिरसका वर्णन है। भयानक भक्तिरसके आलम्बन कृष्ण और दारुण (भयानक लोग) होते हैं। दया करने योग्य व्यक्तियों के आराधन करने पर कृष्ण भयानक भक्तिरसके आलम्बन बनते हैं और स्नेहके कारण सदा अनिष्टकी आशंका करनेवाले कृष्णके बन्धुओंके विषयमें दारुण—भयानक लोग—आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। भयजनक वस्तुओं के दर्शन, श्रवण तथा स्मरणसे भयके आलम्बन विभाव होते हैं।

सातवीं लहरीमें बीभत्स भक्तिरसका वर्णन है। जुगुप्सारति ही बीभत्सरति नामसे पुकारी जाती है। इसके आश्रित तथा शान्त आदिको आलम्बन विभाव कहा जाता है। इस रसकी उत्पत्तिके विषयमें उदाहरणपूर्वक यह बताया गया है कि जो पुरुष पहले काम-लिप्त रहकर स्त्री-सुखका अभ्यस्त था वही कृष्णभक्तिमें निमज्जित होकर जब स्त्री-सुखको देखता है तब उसके भीतर घृणाका भाव पैदा होता है और वह स्त्री की ओरसे जुगुप्सा भावसे मुँह मोड़ लेता है। यह जुगुप्सारति दो प्रकारकी होती है—एक प्रायिकी और दूसरी विवेकजा। अपवित्र तथा घृणित दुर्गन्धपूर्ण पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाली जुगुप्साको प्रायिकी जुगुप्सा रति कहते हैं और कृष्ण-प्रेमके कारण देहादिके प्रति विरक्तिसे उत्पन्न जुगुप्साको विवेकजा कहते हैं।

अष्टम लहरीमें रसोंकी पारस्परिक मैत्री तथा वैर-दशाका वर्णन किया गया है। भक्तिरसोंको रूप गोस्वामीने मुख्य और गौण भेदोंमें विभक्त किया है। मुख्य भक्तिरसके अन्तर्गत जिन पाँच रसोंको गिनाया गया है उनकी शत्रुता-मित्रताका लेखकने बड़े विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। साहित्यशास्त्रके अन्य ग्रंथोंसे इस प्रकरणमें पर्याप्त नवीनता पाई जाती है। गौण रसोंका मैत्री-विरोध विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है। रसोंके अंगीभूत और अंगभूत होनेका वर्णन भी कारणपुरस्सर प्रस्तुत किया गया है। यह अंगांगिभाव निरूपण साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे भी अत्यन्त उपादेय है। जिन रसोंका पारस्परिक विरोध बताया गया है उनके परिहारके नियमोंका भी उल्लेख है। विरोधी रसोंमें विरसताके हटानेके उपाय भी गिनाये गए हैं। इस लहरीका विषय सम्पूर्ण रूपसे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थोंसे मेल खानेपर भी सुन्दर एवं पठनीय है।

नवम लहरीमें रसाभास प्रकरण है रस-लक्षणसे हीन रस ही कहा जाता

उत्तर विभाग

भक्तिरसामृतसिंधुका चौथा अध्याय उत्तर विभाग है। इस विभागमें नौ लहरें हैं जिनमें प्रथम सात लहरियोंमें सात गौण रसोंका तथा आठवीं लहरीमें रसोंकी परस्पर मैत्री तथा वैर-स्थितिका और नवीं लहरीमें रसाभासोंका वर्णन किया गया है।

इन सात गौण भक्तिरसोंके आलम्बन विभाव पूर्वोक्त पांच प्रकारके भक्तोंमेंसे कहीं एक और कहीं अनेक भक्तगण होते हैं। सबसे प्रथम हास्य रसका निरूपण किया गया है। हास्य रति छह प्रकारकी मानी गई है—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अतिहसित। उत्तम पात्रोंमें स्मित तथा हसित; मध्यम पात्रोंमें विहसित तथा अवहसित; और नीच पात्रोंमें अपहसित तथा अतिहसित भेद रहते हैं। इन छहों भेदोंका सोदाहरण स्वरूप भी इस लहरीमें विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है।

दूसरी लहरीमें अद्भुत भक्तिरसका वर्णन है। अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा भक्तके चित्तमें आस्वाद्यताको प्राप्त वह लोकप्रसिद्ध विस्मय रति ही अद्भुत रस कहलाती है। इसमें सब प्रकारके भक्त विस्मयके आश्रय हो सकते हैं, किन्तु लोकोत्तर क्रियाका हेतु कृष्ण ही उसके आलम्बन विभाव होते हैं। कृष्णकी विशेष प्रकारकी चेष्टा उद्दीपन तथा नेत्रोंका फैलना, अश्रु, रोमांच आदि अनुभाव हैं। आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं। यह रस साक्षात् तथा अनुमित रूपसे दो प्रकारका होता है।

तीसरी लहरीमें वीर भक्तिरसका वर्णन है। साहित्यशास्त्रके अनुसार उत्साह रति अपने अनुरूप विभाव आदि के द्वारा आस्वादकी योग्यताको प्राप्त कराई जानेपर वीर रस भक्ति कहलाती है। वीर भक्तिरस चार प्रकारका होता है—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर। कृष्णको प्रसन्न करनेके लिए युद्धमें उत्साह रखनेवाला मित्र या कोई विशेष सम्बन्धी **युद्धवीर** कहलाता है। कभी कृष्ण स्वयं अथवा कभी उनके प्रेरणास्वरूप स्थित होनेपर उनकी इच्छासे कोई दूसरा उत्तम मित्र प्रतियोद्धा होता है। प्रतियोद्धामें रहनेवाले आत्मश्लाघा, ताल ठोकना, अस्त्र उठाना आदि इस वीर रसमें उद्दीपन होते हैं। चार प्रकारके वीर भक्तिरसोंमें सभी सात्विक वृत्तिके होते हैं। दानवीरमें कृष्णके लिए अपना सर्वस्व दान कर देनेवाला बहुप्रद **दानवीर** कहलाता है। दानवीरोंके भी अनेक भेदोंका इस प्रसंगमें वर्णन किया गया है। कारुण्य के कारण द्रवीभूत होकर जो कृष्णको अपना शरीर टुकड़े-टुकड़े करके अर्पित करदे वह **दयावीर** कहलाता है। दया का उद्रेक करानेवाला उत्साह दयोत्साह कहलाता है। वही इस रसका स्थायिभाव होता है। मयूरध्वज राज्य इसका उदाहरण है। बोपदेवने दयावीरको दानवीरके भीतर ही रखा है और तीन भेद स्वीकार किये हैं।

धर्मवीर वह भक्त है जो केवल कृष्णको प्रसन्न रखनेके लिए धर्मानुष्ठानमें लगा रहता है। धर्मोत्साह रतिको विद्वान् इसका स्थायिभाव मानते हैं। धनिक नामक आचार्यने इस धर्मवीर भेदको पृथक् स्वीकार नहीं किया है।

चौथी लहरीमें करुण भक्तिरसका प्रतिपादन है। करुण भक्तिरसमें सर्वदा आनन्दसे परिपूर्ण होनेपर भी विशेष प्रेमके कारण कृष्ण और उनके प्रिय इस रसमें अनिष्ट प्राप्तिके पात्र अर्थात् करुण रसके विभाव रूपमें प्रतीत होते हैं

तीसरा वह जिसने कृष्ण भक्तिका सुख प्राप्त नहीं किया है इस भक्तिके आलम्बन विभाव कहे जाते हैं रोना चिल्लाना पृथ्वीपर गिरना-लोटना छाती पीटना आदि सात्विक भाव होते हैं। हृदयमेंसे अंततः शोक रूपमें परिणत हुई रति शोकरति कहलाती है और वही इसमें स्थायिभाव मानी जाती है।

पंचम लहरीमें रौद्र भक्ति रसका वर्णन है। कृष्ण, कृष्णके मित्र तथा कृष्णके शत्रु, ये तीनों क्रोधके विषय (आलम्बन) होते है। कृष्णके विषयमे सखी तथा वृद्धा आदि क्रोधके आश्रय (कृष्णपर क्रोध करनेवाले) होते है। इस रसमें क्रोध रति स्थायिभाव होता है। यह क्रोध तीन प्रकारका माना गया है—क्रोध, मन्यु तथा रोप। कोप शत्रुके प्रति होता है, बान्धवोंके प्रति मन्यु तथा प्रियतमके प्रति स्त्रियोंका क्रोध रोप कहलाता है। कृष्णके प्रति शिशुपाल आदि शत्रुओंका क्रोध रतिके अभावमें भक्तिरसताको प्राप्त नहीं होता।

छठी लहरीमें भयानक भक्तिरसका वर्णन है। भयानक भक्तिरसके आलम्बन कृष्ण और दारुण (भयानक लोग) होते है। दया करने योग्य व्यक्तियों के आराधन करने पर कृष्ण भयानक भक्तिरसके आलम्बन बनते है और स्नेहके कारण सदा अनिष्टकी आशंका करनेवाले कृष्णके बन्धुओंके विषयमें दारुण—भयानक लोग— आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। भयजनक वस्तुओं के दर्शन, श्रवण तथा स्मरणसे भयके आलम्बन विभाव होते हैं।

सातवीं लहरीमें बीभत्स भक्तिरसका वर्णन है। जुगुप्सारति ही बीभत्सरति नामसे पुकारी जाती है। इसके आश्रित तथा शान्त आदिको आलम्बन विभाव कहा जाता है। इस रसकी उत्पत्तिके विषयमें उदाहरणपूर्वक यह बताया गया है कि जो पुरुष पहले काम-लिप्त रहकर स्त्री-मुखका अभ्यस्त था वही कृष्णभक्तिमें निमज्जित होकर जब स्त्री-मुखको देखता है तब उसके भीतर घृणाका भाव पैदा होता है और वह स्त्री की ओरसे जुगुप्सा भावसे मुँह मोड़ लेता है। यह जुगुप्सारति दो प्रकारकी होती है—एक प्रायिकी और दूसरी विवेकजा। अपवित्र तथा घृणित दुर्गन्धपूर्ण पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाली जुगुप्साको प्रायिकी जुगुप्सा रति कहते हैं और कृष्ण-प्रेमके कारण देहादिके प्रति विरक्तिसे उत्पन्न जुगुप्साको विवेकजा कहते हैं।

अष्टम लहरीमें रसोंकी पारस्परिक मैत्री तथा वैर-दशाका वर्णन किया गया है। भक्तिरसोंको रूप गोस्वामीने मुख्य और गौण भेदोंमें विभक्त किया है। मुख्य भक्तिरसके अन्तर्गत जिन पाँच रसोंको गिनाया गया है उनकी शत्रुता-मित्रताका लेखकने बड़े विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। साहित्यशास्त्रके अन्य ग्रंथोंसे इस प्रकरणमें पर्याप्त नवीनता पाई जाती है। गौण रसोंका मैत्री-विरोध विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है। रसोंके अंगीभूत और अंगभूत होनेका वर्णन भी कारणपुरस्सर प्रस्तुत किया गया है। यह अंगांगिभाव निरूपण साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे भी अत्यन्त उपादेय है। जिन रसोंका पारस्परिक विरोध बताया गया है उसके परिहारके नियमोंका भी उल्लेख है। विरोधी रसोंमें विरसताके हटानेके उपाय भी गिनाये गए है। इस लहरीका विषय सम्पूर्ण रूपसे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थोंसे मेल न खानेपर भी सुन्दर एवं पठनीय है

[illegible] प्रकरण है रस [illegible] कहा जाता

उत्तर विभाग

भक्तिरसामृतसिन्धुका चौथा अध्याय उत्तर विभाग है इस विभागमें नौ लहरियाँ हैं जिनमें प्रथम सात लहरियोंमें सात गौण रसोंका तथा आठवीं लहरीमें रसोंकी परस्पर मैत्री तथा वैर-स्थितिका और नवी लहरीमें रसाभासोंका वर्णन किया गया है।

इन सात गौण भक्तिरसोंके आलम्बन विभाव पूर्वोक्त पाँच प्रकारके भक्तोंमेंसे ही कहीं एक और कहीं अनेक भक्तगण होते है। सबसे प्रथम हास्य रसका निरूपण किया गया है। हास्य रति छह प्रकारकी मानी गई है—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अतिहसित। उत्तम पात्रोमें स्मित तथा हसित; मध्यम पात्रोंमें विहसित तथा अवहसित, और नीच पात्रोमे अपहसित तथा अतिहसित भेद रहते है। इन छहों भेदों का सोदाहरण स्वरूप भी इस लहरीमें विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है।

दूसरी लहरीमे अद्‌भुत भक्तिरसका वर्णन है। अपने अनुरूप विभावादिके द्वारा भक्तके चित्तमें आस्वाद्यताको प्राप्त वह लोकप्रसिद्ध विस्मय रतिको अद्‌भुत रस कहते है। इसमें सब प्रकारके भक्त विस्मयके आश्रय हो सकते हैं, किन्तु लोकोत्तर क्रियाका हेतु कृष्ण ही उसके आलम्बन विभाव होते है। कृष्णकी विशेष प्रकारकी चेष्टा उद्दीपन तथा नेत्रोंका फैलना, अश्रु, रोमांच आदि अनुभाव है। आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव है। यह रस साक्षात् तथा अनुमित रूपसे दो प्रकारका होता है।

तीसरी लहरीमे वीर भक्तिरसका वर्णन है। साहित्यशास्त्रके अनुरूप उत्साह रति अपने अनुरूप विभाव आदि के द्वारा आस्वादकी योग्यताको प्राप्त कराई जानेपर वीर रस भक्ति कहलाती है। वीर भक्तिरस चार प्रकारका होता है—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर। कृष्णको प्रसन्न करनेके लिए युद्धमें उत्साह रखनेवाला मित्र या कोई विशेष सम्बन्धी **युद्धवीर** कहलाता है। कभी कृष्ण स्वयं अथवा कभी उनके प्रेक्षक रूपमें स्थित होनेपर उनकी इच्छासे कोई दूसरा उत्तम मित्र प्रतियोद्धा होता है। प्रतियोद्धाओंमें रहनेवाले आत्मश्लाघा, ताल ठोकना, अस्त्र उठाना आदि इस वीर रसमें उद्दीपन होते है। चार प्रकारके वीर भक्तिरसोंमें सभी सात्विक वृत्तिके होते हैं। दानवीरमें कृष्णके लिए अपना सर्वस्व दान कर देनेवाला बहुप्रद **दानवीर** कहलाता है। दानवीरोंके भी अनेक भेदोंका इस प्रसंगमें वर्णन किया गया है। कारुण्य के कारण द्रवीभूत होकर जो कृष्णको अपना शरीर टुकड़े-टुकड़े करके अर्पित करदे वह **दयावीर** कहलाता है। दयाका उद्रेक करानेवाला उत्साह दयोत्साह कहलाता है। वही इस रसका स्थायिभाव होता है। मयूरध्वज राज्य इसका उदाहरण है। वोपदेवने दयावीरको दानवीरके भीतर ही रखा है और तीन भेद स्वीकार किये हैं।

धर्मवीर वह भक्त है जो केवल कृष्णको प्रसन्न रखनेके लिए धर्मानुष्ठानमें लगा रहता है। धर्मोत्साह रतिको विद्वान् इसका स्थायिभाव मानते हैं। धनिक नामक आचार्यने इस धर्मवीर भेदको पृथक् स्वीकार नहीं किया है।

चौथी लहरीमें करुण भक्तिरसका प्रतिपादन है। करुण भक्तिरसमें सर्वदा आनन्दसे परिपूर्ण होनेपर भी विशेष प्रेमके कारण कृष्ण और उनके प्रिय इस रसमें अनिष्ट-प्राप्तिके पात्र अर्थात् करुण रसके विभाव रूपमें प्रतीत होते हैं कृष्ण उनके प्रियजन तथा

तीसरा वह जिसने कृष्ण भक्तिका सुख प्राप्त नहीं किया है इस भक्तिके आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। रोना चिल्लाना, पृथ्वीपर गिरना-लोटना, छाती पीटना आदि सात्विक भाव होते हैं। हृदयमें अंततः शोक रूपमें परिणत हुई रति शोकरति कहलाती है और वही इसमें स्थायिभाव मानी जाती है।

पंचम लहरीमें रौद्र भक्ति रसका वर्णन है। कृष्ण, कृष्णके मित्र तथा कृष्णके शत्रु, ये तीनों क्रोधके विषय (आलम्बन) होते हैं। कृष्णके विषयमें सखी तथा वृद्धा आदि क्रोधके आश्रय (कृष्णपर क्रोध करनेवाले) होते हैं। इस रसमें क्रोध रति स्थायिभाव होता है। यह क्रोध तीन प्रकारका माना गया है—क्रोध, मन्यु तथा रोप। कोप शत्रुके प्रति होता है, बान्धवोंके प्रति मन्यु तथा प्रियतमके प्रति स्त्रियोंका क्रोध रोष कहलाता है। कृष्णके प्रति शिशुपाल आदि शत्रुओंका क्रोध रतिके अभावमें भक्तिरसताको प्राप्त नहीं होता।

छठी लहरीमें भयानक भक्तिरसका वर्णन है। भयानक भक्तिरसके आलम्बन कृष्ण और दारुण (भयानक लोग) होते हैं। दया करने योग्य व्यक्तियों के आराधन करने पर कृष्ण भयानक भक्तिरसके आलम्बन बनते हैं और स्नेहके कारण सदा अनिष्टकी आशंका करनेवाले कृष्णके बन्धुओंके विषयमें दारुण—भयानक लोग—आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। भयजनक वस्तुओं के दर्शन, श्रवण तथा स्मरणसे भयके आलम्बन विभाव होते हैं।

सातवीं लहरीमें बीभत्स भक्तिरसका वर्णन है। जुगुप्सारति ही बीभत्सरति नामसे पुकारी जाती है। इसके आश्रित तथा शान्त आदिको आलम्बन विभाव कहा जाता है। इस रसकी उत्पत्तिके विषयमें उदाहरणपूर्वक यह बताया गया है कि जो पुरुष पहले काम-विवश रहकर स्त्री-सुखका अभ्यस्त था वही कृष्णभक्तिमें निमज्जित होकर जब स्त्री-सुखको देखता है तब उसके भीतर घृणाका भाव पैदा होता है और वह स्त्री की ओरसे जुगुप्सा भावसे मुँह मोड़ लेता है। यह जुगुप्सारति दो प्रकारकी होती है—एक प्रायिकी और दूसरी विवेकजा। अपवित्र तथा घृणित दुर्गन्धपूर्ण पदार्थोंसे उत्पन्न होनेवाली जुगुप्साको प्रायिकी जुगुप्सा रति कहते हैं और कृष्ण-प्रेमके कारण देहादिके प्रति विरक्तिसे उत्पन्न जुगुप्साको विवेकजा कहते हैं।

अष्टम लहरीमें रसोंकी पारस्परिक मैत्री तथा वैर-दशाका वर्णन किया गया है। भक्तिरसोंको रूप गोस्वामीने मुख्य और गौण भेदोंमें विभक्त किया है। मुख्य भक्तिरसके अन्तर्गत जिन पाँच रसोंको गिनाया गया है उनकी शत्रुता-मित्रताका लेखकने बड़े विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। साहित्यशास्त्रके अन्य ग्रंथोंसे इस प्रकरणमें पर्याप्त नवीनता पाई जाती है। गौण रसोंका मैत्री-विरोध विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है। रसोंके अंगीभूत और अंगभूत होनेका वर्णन भी कारणपुरस्सर प्रस्तुत किया गया है। यह अंगांगिभाव निरूपण साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे भी अत्यन्त उपादेय है। जिन रसोंका पारस्परिक विरोध बताया गया है उसके परिहारके नियमोंका भी उल्लेख है। विरोधी रसोंमें विरसताके हटानेके उपाय भी गिनाये गए हैं। इस लहरीका विषय सम्पूर्ण रूपसे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थोंसे मेल न खानेपर भी सुन्दर एवं पठनीय है।

नवम लहरीमें रसाभास प्रकरण है रस-लक्षणसे हीन रस ही कहा जाता

भक्ति-रस-मीमांसा

डा० रामसागर त्रिपाठी

विषय-प्रवेश

तत्त्व-चिन्तन सदा लक्ष्य परीक्षाका अनुगामी होता है और पर्याय रूपमें लक्ष्य-प्रवृत्ति भी परिस्थितिका आधार लेती है। 'नर भाषा' अथवा 'धारा नदी' की भाँति काव्य-विषय या काव्य-स्वरूप भी कहीं स्थिर नहीं होता, किन्तु अनेक मोड़ लेता हुआ चलता है। नवीन विचारधाराओंके सम्पर्कसे साहित्य-क्षेत्रमें जो नवोन्मेष होते रहते हैं तथा [illegible] जो अङ्कुर बढ़ते रहते हैं उनसे कालान्तरमें काव्यशास्त्र-रूपी वस्त्र छोटे और अप्रामाणिक हो जाते हैं और परवर्ती विचारकोंको नवीन दिशामें चिन्तन करनेके लिए बाध्य हो जाना पड़ता है जिससे प्रवहमान चिन्ताधारा चिर नवीनताके साथ रमणीयताका अधिष्ठान बन जाया करती है। हमारे आचार्योंने शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छासे काव्य-प्रवृत्तिका निषेध किया है, उसका भी आशय यही है। 'नतु केवलया शास्त्रस्थिति सम्पादनेच्छया।'

उपनिषत्कालसे चली आती हुई दार्शनिक चिन्ताधाराने दक्षिणके मध्यकालीन महात्माओंके हाथमें पड़कर नवीन मोड़को स्वीकार कर लिया था। फलतः शाक्त, शैव और वैष्णव विचारधाराएँ जनमानस पटल पर अङ्कित होकर नवीन आन्दोलनका सृजन कर रही थीं। अद्वैतवादके प्रतिरोधमें विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि अनेक विचारधाराएँ अपना स्थान बना चुकी थीं। इस नवीन मोडमें निर्वाणोन्मुख बौद्ध-धर्मका शाखा-प्रशाखाओंमें विभाजन, जनसाधारणमें प्रचलित साधनामूलक अनेक मतवाद और अन्ततः मुसलमानोंका प्रवेश कम कारण नहीं हुआ था। इन समस्त विचारधाराओंका काव्यका प्रभावित करना अनिवार्य हो गया था। परिवर्तनके लक्षण श्रीमद्भागवतसे और गीतगोविन्दकार जयदेवसे ही दृष्टिगत होने लगे थे। धीरे-धीरे काव्य-प्रवृत्ति ही बदल गई और भक्तिमूलक नवीन काव्यधारा भक्त-कवियोंके मानससे उद्भूत होकर काव्यरसिकों की अन्तस्तल भूमियोंको आप्यायित और आप्लावित करने लगी जिसके अभिषेकका पुनीत पर्व समयकी एक विशेष घटना बन गई। यह स्वीकार करनेके अनेक कारण हैं कि जिस भक्ति-साहित्यका प्राधान्य मध्यकालमें हो गया था उसके बीज भले ही हमारे साहित्यमे उपलब्ध हो जायँ अथवा उस प्रकारकी प्रवृत्ति हमारे लिये नवीन भले ही न रही हो, किन्तु भक्ति-काव्य अपने मध्यकालीन रूपमें किसी विशेष समयकी सामान्य प्रवृत्ति कभी नहीं रही, इस मान्यताका निराकरण किञ्चित् अशक्य अवश्य है। यह दूसरी बात है कि उक्त प्रवृत्ति भारतीय मनोवृत्तिके विपरीत नहीं थी इसीलिए ही उसे स्वीकार कर लिया गया

२ [illegible] इस रूपमें प्रस्तुत किया है नाटकका अर्थ है ऐसा काव्य जिसका [illegible] नाटक या काव्य विशेषसे हो यह अर्थ नटक अभिनय-कौशलसे प्रत्यक्ष-सा दिखलाई पड़ने लगता है और इसका अनुभव मनकी एकाग्रावस्थासे किया जा सकता है। इसका स्वरूप यद्यपि अनन्त विभावादिकोंसे निर्मित होता है तथापि समस्त जड़-वर्गका संवेदनमें लय हो जाता है; संवेदनका भोक्तामें और भोक्तृ-वर्गका पर्यवसान प्रधान भोक्तामें हो जाता है। अतएव इस काव्यार्थका स्वभाव होता है प्रधान नायककी स्थायिनी चित्तवृत्ति। स्वकीय परकीय इत्यादि भेदसे चित्तवृत्तियाँ असंख्य होती है। जब किसी विशिष्ट चित्त-वृत्तिको नाट्यमें प्रस्तुत किया जाता है तब नटके अभिनयकौशल, गीत, लास्य, रंगमंचकी सज्जा इत्यादिके प्रभावसे चित्तवृत्तियोंकी विभेद-बुद्धि तिरोहित हो जाती है। काव्यमें यही कार्य लक्षणा, गुण और अलङ्कार इत्यादि के प्रभावसे सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार एक सर्वसाधारण चित्तवृत्तिका स्फुरण हो जाता है जिसमें सामाजिकोंकी चित्तवृत्तियाँ भी सन्निविष्ट होती है। जिस प्रकार एक प्रकाश-दीपके समक्ष सन्निहित असंख्य दर्पणोंमें वह प्रकाश-दीप एक ही रूपमें भासमान हो जाता है उसी प्रकार समस्त सामाजिकोंमें एक-सी ही चित्तवृत्ति प्रादुर्भूत हो जाती है। इस प्रकार नायककी चित्तवृत्तिसे सामाजिकोंकी चित्त-वृत्तियोंका तादात्म्य स्थापित हो जाता है जिससे उसमें समस्त लौकिक चित्तवृत्तियोंकी अपेक्षा एक विलक्षणता आ जाती है। लौकिक चित्तवृत्तियाँ परिमित स्वमात्र-विश्रान्त होती है जिससे उनमें भावान्तर-जननक्षमता विद्यमान रहती है। शत्रु, मित्र या उदासीनके किसी भावको हम एक दृष्टिसे ही नहीं देख सकते। उसमें हमारी व्यक्तिगत मनोवृत्तियाँ प्रतिबन्धक होकर भावान्तरको उत्पन्न कर देती हैं। इसके प्रतिकूल नाट्य-काव्यगत चित्त-वृत्तियाँ सर्वसाधारणमें एकतान होकर भावान्तर जननक्षमतासे रहित हो जाती हैं। इस प्रकार काव्यगत चित्तवृत्तियोंका ग्रहण एक-दूसरे रसन या आस्वादन व्यापारसे हुआ करता है जिसका लक्षण ही है निर्विघ्न स्वसंवेदनात्मक विश्रान्ति। इसी व्यापारके आधारपर उसे रस संज्ञा प्राप्त हो जाती है।

अभिनवगुप्तके मतमें साधारणीकरण सर्वाङ्गीण तथा पूर्ण होता है। काव्य या नाट्यमें जिन यथार्थ वस्तुओंका उपादान किया जाता है उनका अत्यन्त अपसारण होकर साधारणीभावकी अत्यन्त पुष्टि हो जाती है। उस समय समस्त सामाजिकोंकी अखण्ड एक-घन प्रतिपत्ति रसके परिपोषमें कारण हो जाती है। उदाहरणके लिए अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त मृगका पीछा करते हुए आते हैं। मृग भयका अभिनय करता है। मृगका कोई विशेष रूप नहीं है; त्रासक दुष्यन्त भी अपारमार्थिक हैं। इससे दोनोंका विलय होकर देश काल इत्यादिसे अनालिङ्गित भयमात्र शेष रह जाता है। लोकमें भयकी प्रतीति दूसरे ही प्रकारकी होती है—वहाँ यह प्रतीत होता है कि 'मैं डरा हुआ हूँ', 'यह शत्रु डरा हुआ है', 'यह मित्र डरा हुआ है', 'यह मध्यस्थ व्यक्ति डरा हुआ है' इत्यादि अनेकविध प्रत्यय होते हैं जिनसे भीत व्यक्तिके सम्बन्धके अनुसार सुख-दुःख इत्यादि भाव जागृत होते रहते है। किन्तु काव्यमें ये कोई विघ्न नहीं होते और उसमें भय निर्विघ्न प्रतीतिसे ग्राह्य होता है उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वह हृदयमें प्रविष्ट हो रहा हो और आँखोंके

है। रसाभासके तीन प्रकार हैं—उपरस, अनुरस तथा अपरस। ये क्रमशः उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ होते हैं। प्रत्येक रसके रसाभासोंका इस लहरीमें सोदाहरण सविस्तार वर्णन है। रसाभास काव्यशास्त्रमें विवादका विषय रहा है। रस निर्मल होता है निर्मलता-विहीनको रस नहीं माना जा सकता। अनौचित्यमें रसका निर्वाह सम्भव ही नहीं है। सद्-हेतु और हेत्वाभास एक ही स्थानपर नहीं रहते, अतः रस और रसाभास एक स्थान पर नहीं हो सकते। दूसरा मत है कि इनके एक स्थानमें रहनेकी सम्भावना वैसे ही ठीक है जैसे घोड़ेमें अनुचित दोष आदि रहनेपर भी उसके स्वरूपका नाश नहीं होता घोड़ा, घोड़ा ही रहता है। उसी प्रकार दोष होनेसे रसाभाव होनेसे रसत्वका सर्वथा लोप नहीं मानना चाहिए। रूप गोस्वामीने इस विवादको प्रत्यक्ष रूपसे यहां उठाया नहीं है किन्तु अपनी परिभाषामें इसका समाधान देनेका प्रयत्न किया है।

—विजयेन्द्र स्नातक

भक्ति-रस-मीमांसा

डा० रामसागर त्रिपाठी

विषय-प्रवेश

शास्त्र-चिन्तन सदा लक्ष्य परीक्षाका अनुगामी होता है और पर्याय रूपमें लक्ष्य-परीक्षा भी परिस्थितिका आधार लेती है। 'नर भाषा' अथवा 'धारा नदी' की भाँति शास्त्र-चिन्तन या शास्त्र-स्वरूप भी कहीं स्थिर नहीं होता, किन्तु अनेक मोड़ लेता हुआ चलता है। नवीन विचारधाराओंके सम्पर्कमें साहित्य-क्षेत्रमें जो नवोन्मेष होते रहते हैं तथा साहित्यिक रुचिके भी स्थूल बदले रहते हैं उनसे कालान्तरमें काव्यशास्त्र-रूपी वस्त्र छोटे और अप्रामाणिक हो जाते हैं और परवर्ती विचारकोंको नवीन दिशामें चिन्तन करनेके लिए बाध्य हो जाना पड़ता है जिससे प्रवहमान चिन्ताधारा चिर नवीनताके साथ रमणीयताका अभिज्ञान बन जाया करती है। हमारे आचार्योंने शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छासे काव्य-प्रवृत्तिका निषेध किया है, उसका भी आशय यही है। 'नतु केवलया शास्त्रस्थिति सम्पादनेच्छया।'

उपनिषत्कालसे चली आती हुई दार्शनिक चिन्ताधाराने दक्षिणके मध्यकालीन सन्त-महात्माओंके हाथमें पड़कर नवीन मोड़को स्वीकार कर लिया था। फलतः शाक्त, शैव और वैष्णव विचारधाराएँ जनमानस पटल पर अङ्कित होकर नवीन आन्दोलनका सृजन कर रही थीं। अद्वैतवादके प्रतिरोधमें विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि अनेक विचारधाराएँ अपना स्थान बना चुकी थीं। इस नवीन मोड़में निर्वाणोन्मुख बौद्ध-धर्मका शाखा-प्रशाखाओंमें विभाजन, जनसाधारणमें प्रचलित साधनामूलक अनेक मतवाद और भारतमें मुसलमानोंका प्रवेश कम कारण नहीं हुआ था। इन समस्त विचारधाराओंका काव्यको प्रभावित करना अनिवार्य हो गया था। परिवर्तनके लक्षण श्रीमद्भागवतसे और विशेषतः जयदेवमें ही दृष्टिगत होने लगे थे। धीरे-धीरे काव्य-प्रवृत्ति ही बदल गई और भक्तिमूलक नवीन काव्यधारा भक्त-कवियोंके मानससे उद्भूत होकर काव्यरसिकों की अन्तस्तल भूमियोंको आप्लावित और आप्लावित करने लगी जिसके अभिषेकका पुनीत पर्व भारतकी एक विशेष घटना बन गई। यह स्वीकार करनेके अनेक कारण हैं कि जिस भक्ति-साहित्यका प्राधान्य मध्यकालमें हो गया था उसके बीज भले ही हमारे साहित्यमें उपलब्ध हो जायें अथवा इस प्रकारकी प्रवृत्ति हमारे लिये नवीन भले ही न रही हो, किन्तु भक्ति-काव्य अपने मध्यकालीन रूपमें किसी विशेष समयकी सामान्य प्रवृत्ति कभी नहीं रही, इस मान्यताका निराकरण किञ्चित् अशक्य अवश्य है। यह दूसरी बात है कि उक्त प्रवृत्ति भारतीय मनोवृत्तिके विपरीत नहीं थी इसीलिए अनायास ही उसे स्वीकार कर लिया गया [illegible] कभी नहीं माना गया काव्य प्रवृत्तिके साथ नवीन दिशाको

करनेकी चेष्टा अनिवार्य आवश्यकता थी और इस कार्यको संस्कृत तथा हिन्दीमें कतिपय आचार्योंने सम्पन्न करनेकी चेष्टा की। बंगालमें चैतन्यदेवने १५वीं शतीमें जिस प्रणय आन्दोलन और विश्वासको प्रगति दी थी उसी महान् वट-वृक्षकी कतिपय शाखाएं गोस्वामियोंकी परम्पराके रूपमें वृन्दावनमें प्रस्फुटित हुई थीं। भक्तिरसके निरूपणकी दिशामें इन गोस्वामियोंका योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। गोस्वामियोंमें भी रूप गोस्वामी अग्रगण्य हैं। इनकी लिखी हुई तीन पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—(१) भक्तिरसामृतसिन्धु—इसमें भक्तिकी रसरूपताका प्रतिपादन किया गया है। (२) उज्ज्वल नीलमणि—यह भी भक्तिरसामृतसिन्धुका परिशिष्ट जैसा ग्रन्थ है जिसमें मधुर अथवा उज्ज्वल भक्तिका शास्त्रीय निरूपण किया गया है और (३) नाटक चन्द्रिका—इसमें भरतके नाट्यशास्त्रका अनुसरण किया गया है। भक्तिरसके शृङ्गारमूलक गुह्यरहस्यके प्रस्थापनमें प्रथम दो पुस्तकोंका सर्वाधिक महत्त्व है।

पृष्ठभूमि

रूप गोस्वामीके भक्ति रहस्यको ठीक रूपमें हृदयङ्गम करनेके लिए रस सिद्धान्तकी प्राक्तन परम्परासे परिचय प्राप्त करना अत्यधिक अभीष्ट है। कारण यह है कि कोई भी नवीन तत्त्वचिन्तन प्राचीन परम्परासे सर्वथा व्यवच्छिन्न नहीं हो सकता। रूप गोस्वामीका रस सिद्धान्त यद्यपि मौलिक चिन्तनके कारण नवीन जैसा प्रतीत होता है तथापि उसमें प्राचीन चिन्तकोंकी हेतुता तो सन्निहित है ही। अतः व्यतिरेकका परिज्ञान करनेके लिए भी मुख्य विचारधाराका परिचय प्रयोजनीय होता ही है।

रस विषयक चिन्तन-परम्पराका उदय तो बहुत पहले हो चुका था, किन्तु उपलब्ध साहित्यमें उसका प्रवर्तन भरतसे ही माना जाता है। भरतने रस-निष्पत्तिका सूत्र रूपमें निर्देश किया था और केवल पानक-रसन्यायका दृष्टान्त देकर सन्तोष कर लिया था। बादमें उसकी अनेक व्याख्याएँ हुईं जिनका समाहार अभिनवगुप्तमें पाया जाता है। अभिनवका रस सिद्धान्त ही परवर्ती विचारकोंमें सामान्य सिद्धान्त-भूमिके रूपमें प्रतिष्ठित हो गया और कुछ हेर-फेरसे उसीकी व्याख्या की जाती रही।

अभिनवका रस सिद्धान्त साधारणीकरणकी प्रक्रियापर आधारित है। यह साधारणीकरण भट्ट नायकका एक अतिरिक्त वृत्तिजन्य साधारणीकरण नहीं है, अपितु सामान्य शास्त्रीय मर्यादासे उद्भूत हुआ है। भारतीय चिन्ताधाराओंमें साधारणीकरण किसी-न-किसी रूपमें प्रायः अपनाया गया है। शब्दशास्त्रमें व्यवहार-निर्वाहके लिए पदादिका शक्ति-ग्रहण विशिष्टमें नहीं, सामान्यमें ही माना जाता है। तर्कशास्त्रमें भी व्याप्ति-ग्रहण तभी हो सकता है जब विश्वके समस्त अतीतानागत धूमों और अग्नियोंका साक्षात्कार सम्पन्न हो जावे। सभीका प्रत्यक्षीकरण अशक्य है। इसलिए शास्त्रीय मर्यादाके निर्वाहके लिए तर्कशास्त्रियोंने सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति और ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिकी कल्पनाकी है जो साधारणीकरणका ही दूसरा नाम है। अभिनवगुप्तने धूम और अग्निका दृष्टान्त ही अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिए प्रस्तुत किया है।

र्भा साधारणीकरण आंशिक नहीं सर्वथा पूर्ण है

[illegible] रूपमें प्रस्तुत किया है । नाटकका अर्थ है ऐसा काव्य जिसका [illegible] विशेषसे हो । यह अर्थ नटके अभिनय कौशलसे प्रत्यक्ष सा दिखलाई पड़ने लगता है और उसका अनुभव मनकी एकाग्रावस्थासे किया जा सकता है। इसका स्वरूप यद्यपि अनन्त विभावादिकोंसे निर्मित होता है तथापि समस्त जड़-वर्गका संवेदनमें लय हो जाता है; संवेदनका भोक्तामें और भोक्तृ-वर्गका पर्यवसान प्रधान भोक्तामें हो जाता है। अतएव इस काव्यार्थका स्वभाव होता है प्रधान नायककी स्थायिनी चित्तवृत्ति। स्वकीय, परकीय इत्यादि भेदसे चित्तवृत्तियाँ असंख्य होती हैं। जब किसी विशिष्ट चित्त-वृत्तिको नाट्यमें प्रस्तुत किया जाता है तब नटके अभिनयकौशल, गीत, लास्य, रंगमंचकी सज्जा इत्यादिके प्रभावसे चित्तवृत्तियोंकी विभेद-बुद्धि तिरोहित हो जाती है। काव्यमें यही कार्य लक्षणा, गुण और अलङ्कार इत्यादि के प्रभावसे सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार एक सर्वसाधारण चित्तवृत्तिका स्फुरण हो जाता है जिसमें सामाजिकोंकी चित्तवृत्तियाँ भी सन्निविष्ट होती है। जिस प्रकार एक प्रकाश-दीपके समक्ष सन्निहित असंख्य दर्पणोंमें वह प्रकाश-दीप एक ही रूपमें संक्रान्त हो जाता है उसी प्रकार समस्त सामाजिकोंमें एक-सी ही चित्तवृत्ति प्रादुर्भूत हो जाती है। इस प्रकार नायककी चित्तवृत्तिसे सामाजिकोंकी चित्त-वृत्तियोंका तादात्म्य स्थापित हो जाता है जिससे उसमें समस्त लौकिक चित्तवृत्तियोंकी अपेक्षा एक विलक्षणता आ जाती है। लौकिक चित्तवृत्तियाँ परिमित स्वमात्र-विश्रान्त होती है जिससे उनमें भावान्तर-जननक्षमता विद्यमान रहती है। शत्रु, मित्र या उदासीनके किसी भावको हम एक दृष्टिसे ही नहीं देख सकते। उसमें हमारी व्यक्तिगत मनोवृत्तियाँ प्रतिबन्धक होकर भावान्तरको उत्पन्न कर देती हैं। इसके प्रतिकूल नाट्य-काव्यगत चित्त-वृत्तियाँ सर्वसाधारणमें एकतान होकर भावान्तर जननक्षमतासे रहित हो जाती है। इस प्रकार काव्यगत चित्तवृत्तियोंका ग्रहण एक-दूसरे रसन या आस्वादन व्यापारसे हुआ करता है जिसका लक्षण ही है निर्विघ्न स्वसंवेदनात्मक विश्रान्ति। इसी व्यापारके आधारपर उसे रस संज्ञा प्राप्त हो जाती है।

अभिनवगुप्तके मतमें साधारणीकरण सर्वाङ्गीण तथा पूर्ण होता है। काव्य या नाट्यमें जिन यथार्थ वस्तुओंका उपादान किया जाता है उनका अत्यन्त अपसारण होकर साधारणीभावकी अत्यन्त पुष्टि हो जाती है। उस समय समस्त सामाजिकोंकी अखण्ड एक-घन प्रतीति रसके परिपोषमें कारण हो जाती है। उदाहरणके लिए अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त मृगका पीछा करते हुए आते हैं। मृग भयका अभिनय करता है। मृगका कोई विशेष रूप नहीं है; त्रासक दुष्यन्त भी अपारमार्थिक हैं। इससे दोनोंका विलय होकर देश काल इत्यादिसे अनालिङ्गित भयमात्र शेष रह जाता है। लोकमें भयकी प्रतीति दूसरे ही प्रकारकी होती है—वहाँ यह प्रतीत होता है कि 'मैं डरा हुआ हूँ', 'यह शत्रु डरा हुआ है', 'यह मित्र डरा हुआ है', 'यह मध्यस्थ व्यक्ति डरा हुआ है' इत्यादि अनेकविध प्रत्यय होते हैं जिनसे भीत व्यक्तिके सम्बन्धके अनुसार सुख-दुःख इत्यादि भाव जागृत होते रहते है किन्तु काव्यमें ये कोई विघ्न नहीं होते और उसमें भय निर्विघ्न प्रतीतिसे ग्राह्य होता है उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वह हृदयमें प्रविष्ट हो रहा हो और आँखोंके

करनेकी चेष्टा अनिवार्य आवश्यकता थी और इस कार्यको संस्कृत तथा हिन्दीके कतिपय आचार्योंने सम्पन्न करनेकी चेष्टा की। बंगालमें चैतन्यदेवने १५वीं शतीमें जिस वैष्णव आन्दोलन और विश्वासकी प्रगति दी थी उसी महान् वट-वृक्षकी कतिपय शाखाएँ गोस्वामियोंकी परम्पराके रूपमें वृन्दावनमें प्रस्फुटित हुई थीं। भक्तिरसके निरूपणकी दिशामें इन गोस्वामियोंका योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। गोस्वामियोंमें भी रूप गोस्वामी अग्रगण्य हैं। इनकी लिखी हुई तीन पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—(१) भक्तिरसामृतसिन्धु- इसमें भक्तिकी रसरूपताका प्रतिपादन किया गया है। (२) उज्ज्वल नीलमणि—यह भक्ति रसामृतसिन्धुका परिशिष्ट जैसा ग्रन्थ है जिसमें मधुर अथवा उज्ज्वल भक्तिका शास्त्रीय निरूपण किया गया है और (३) नाटक चन्द्रिका—इसमें भरतके नाट्यशास्त्रका अनुसरण किया गया है। भक्तिरसके शृङ्गारमूलक गुह्यरहस्यके प्रस्थापनमें प्रथम दो पुस्तकोंका सर्वाधिक महत्त्व है।

पृष्ठभूमि

रूप गोस्वामीके भक्ति रहस्यको ठीक रूपमें हृदयङ्गम करनेके लिए रस सिद्धान्तकी प्राक्तन परम्परासे परिचय प्राप्त करना अत्यधिक अभीष्ट है। कारण यह है कि कोई भी नवीन तत्त्वचिन्तन प्राचीन परम्परासे सर्वथा व्यवच्छिन्न नहीं हो सकता। रूप गोस्वामीका रस सिद्धान्त यद्यपि मौलिक चिन्तनके कारण नवीन जैसा प्रतीत होता है तथापि उसमें प्राचीन चिन्तकोंकी हेतुता तो सन्निहित है ही। अतः व्यतिरेकका परिज्ञान करनेके लिए भी मुख्य विचारधाराका परिचय प्रयोजनीय होता ही है।

रस विषयक चिन्तन-परम्पराका उदय तो बहुत पहले हो चुका था, किन्तु उपलब्ध साहित्यमें उसका प्रवर्तन भरतसे ही माना जाता है। भरतने रस-निष्पत्तिका सूत्र रूपमें निर्देश किया था और केवल पानक-रसन्यायका दृष्टान्त देकर सन्तोष कर लिया था। बादमें उसकी अनेक व्याख्याएँ हुईं जिनका समाहार अभिनवगुप्तमें पाया जाता है। अभिनवका रस सिद्धान्त ही परवर्ती विचारकोंमें सामान्य सिद्धान्त-भूमिके रूपमें प्रतिष्ठित हो गया और कुछ हेर-फेरसे उसीकी व्याख्या की जाती रही।

अभिनवका रस सिद्धान्त साधारणीकरणकी प्रक्रियापर आधारित है। यह साधारणीकरण भट्ट नायकका एक अतिरिक्त वृत्तिजन्य साधारणीकरण नहीं है, अपितु सामान्य शास्त्रीय मर्यादासे उद्भूत हुआ है। भारतीय चिन्ताधाराओंमें साधारणीकरण किसी-न-किसी रूपमें प्रायः अपनाया गया है। शब्दशास्त्रमें व्यवहार-निर्वाहके लिए शब्दार्थका शक्ति-ग्रहण विशिष्टमें नहीं, सामान्यमें ही माना जाता है। तर्कशास्त्रमें भी व्याप्ति ग्रहण तभी हो सकता है जब विश्वके समस्त अतीतानागत धूमों और अग्नियोंका साक्षात्कार सम्पन्न हो जावे। सभीका प्रत्यक्षीकरण अशक्य है। इसलिए शास्त्रीय मर्यादाके निर्वाहके लिए तर्कशास्त्रियोंने सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति और ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिकी कल्पनाकी है जो साधारणीकरणका ही दूसरा नाम है। अभिनवगुप्तने धूम और अग्निका दृष्टान्त ही अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिए प्रस्तुत किया है।

आंशिक नहीं सर्वथा [illegible]

इस प्रकार भट्टनायकने दृष्टिकोण इस रूपमें प्रस्तुत किया है नाटकका अर्थ है ऐसा काव्य जिसका आतन न [illegible] या राध्य विशेषसे हो यह अर्थ नटके अभिनय-कौशलसे प्रत्यक्ष-सा दिखलाई पड़ने लगता है और उसका अनुभव मनकी एकाग्रावस्थासे किया जा सकता है। इसका स्वरूप यद्यपि अनन्त विभावादिकोंसे निर्मित होता है तथापि समस्त जड़-वर्गका संवेदनमें लय हो जाता है; संवेदनका भोक्तामें और भोक्तृ-वर्गका पर्यवसान प्रधान भोक्तामें हो जाता है। अतएव इस काव्यार्थका स्वभाव होता है प्रधान नायककी स्थायिनी चित्तवृत्ति। स्वकीय, परकीय इत्यादि भेदसे चित्तवृत्तियाँ असंख्य होती हैं। जब किसी विशिष्ट चित्त-वृत्तिको नाट्यमें प्रस्तुत किया जाता है तब नटके अभिनयकौशल, गीत, लास्य, रंगमंचकी सज्जा इत्यादिके प्रभावसे चित्तवृत्तियोंकी विभेद-बुद्धि तिरोहित हो जाती है। काव्यमें यही कार्य लक्षणा, गुण और अलङ्कार इत्यादि के प्रभावसे सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार एक सर्वसाधारण चित्तवृत्तिका स्फुरण हो जाता है जिसमें सामाजिकोंकी चित्तवृत्तियाँ भी सन्निविष्ट होती हैं। जिस प्रकार एक प्रकाश-दीपके समक्ष सन्निहित असख्य दर्पणोंमें वह प्रकाश-दीप एक ही रूपमें संक्रान्त हो जाता है उसी प्रकार समस्त सामाजिकोंमें एक-सी ही चित्तवृत्ति प्रादुर्भूत हो जाती है। इस प्रकार नायककी चित्तवृत्तिमे सामाजिकोंकी चित्त-वृत्तियोंका तादात्म्य स्थापित हो जाता है जिससे उसमें समस्त लौकिक चित्तवृत्तियोंकी अपेक्षा एक विलक्षणता आ जाती है। लौकिक चित्तवृत्तियाँ परिमित स्वमात्र-विश्रान्त होती है जिनसे उनमें भावान्तर-जननक्षमता विद्यमान रहती है। शत्रु, मित्र या उदासीनके किसी भावको हम एक दृष्टिसे ही नहीं देख सकते। उसमें हमारी व्यक्तिगत मनोवृत्तियाँ प्रतिबन्धक होकर भावान्तरको उत्पन्न कर देती हैं। इसके प्रतिकूल नाट्य-काव्यगत चित्त-वृत्तियाँ सर्वसाधारणमें एकतान होकर भावान्तर जननक्षमतासे रहित हो जाती है। इस प्रकार काव्यगत चित्तवृत्तियोंका ग्रहण एक-दूसरे रसन या आस्वादन व्यापारसे हुआ करता है जिसका लक्षण ही है निर्विघ्न स्वसंवेदनात्मक विश्रान्ति। इसी व्यापारके आधारपर उसे रस संज्ञा प्राप्त हो जाती है।

अभिनवगुप्तके मतमें साधारणीकरण सर्वाङ्गीण तथा पूर्ण होता है। काव्य या नाट्यमें जिन यथार्थ वस्तुओंका उपादान किया जाता है उनका अत्यन्त अपसारण होकर साधारणीभावकी अत्यन्त पुष्टि हो जाती है। उस समय समस्त सामाजिकोंकी अखण्ड एक-घन प्रतिपत्ति रसके परिपोषमें कारण हो जाती है। उदाहरणके लिए अभिज्ञानशाकुन्तलमें दुष्यन्त मृगका पीछा करते हुए आते हैं। मृग भयका अभिनय करता है। मृगका कोई विशेष रूप नहीं है; त्रासक दुष्यन्त भी अपारमार्थिक हैं। इससे दोनोंका विलय होकर देश काल इत्यादिसे अनालिङ्गित भयमात्र शेष रह जाता है। लोकमें भयकी प्रतीति दूसरे ही प्रकारकी होती है--वहाँ यह प्रतीत होता है कि 'मैं डरा हुआ हूँ', 'यह शत्रु डरा हुआ है', 'यह मित्र डरा हुआ है', 'यह मध्यस्थ व्यक्ति डरा हुआ है' इत्यादि अनेकविध प्रत्यय होते हैं जिनमें भीत व्यक्तिके सम्बन्धके अनुसार सुख-दुःख इत्यादि भाव जागृत होते रहते हैं। किन्तु काव्यमें ये कोई विघ्न नहीं होते और उसमें भय निर्विघ्न प्रतीतिसे ग्राह्य होता है उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो वह हृदयमें प्रविष्ट हो रहा हो और आँखोंके

सामने नाच रहा हो इस प्रकारकी भयानुभूतिमें न सहृदयकी [illegible] जाता है और न उसकी सर्वथा उपेक्षा ही होती है।

अभिनवगुप्तकी रस-प्रक्रियाका दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है संविद्विश्रान्ति। सच्चा आनन्द आत्मस्वरूपमयतामें है। जब कभी आत्मस्वरूपका परिपूर्ण स्वभाव प्रकाशित हो उठता है और आत्मपरामर्श सम्पन्न हो जाता है तभी सच्चा आनन्द प्राप्त होता है। इस आत्मानुभूतिमें प्रतिबन्धक होती हैं देहादि संकोचकी सीमाएं जिनसे जीव [illegible] रिक्तताका अनुभव करता है। जब रिक्तताका अपसारण हो जाता है तब सच्चे आनन्दकी एक झलक मिल जाती है। क्षुधातुर व्यक्तिको अन्नकी न्यूनताका अनुभव होता है जिससे वह आत्मस्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर सकता। पेट भर जाने पर यह रिक्तता जाती रहती है और उसे थोड़ी देरके लिए आनन्द आ जाता है। यह आनन्द क्या है? वस्तुतः क्षुधारूप विघ्नके अपसारणसे आत्मानन्दकी एक झलक ही तो है। फिर मन दूसरी ओर उन्मुख हो जाता है। पेटकी भूख शान्त हो जाने पर दूसरे विषयोंकी भूख जागृत हो गई। एक नया अभाव खटकने लगा जिससे आत्मानुभूति-जन्य आनन्द फिर तिरोहित हो गया। उन अभावोंकी पूर्ति हो जानेपर पुन: आनन्दांशकी उपलब्धि हो जाती है जो वास्तवमें आत्मानुभूतिजन्य आनन्दका ही अंश है। इस प्रकार समस्त लौकिक आनन्दोंमें विषयार्जन की प्रवृत्ति सन्निहित रहती है जिससे विषयान्तरकी प्रवृत्ति होती ही रहती है। इसके प्रति-कूल काव्यानन्दमें विषयार्जनका अभाव होता है। इसीलिए काव्यानन्दको वीतविघ्ना प्रतीति कहा जाता है। इसमें विषयोंके अर्जन-विसर्जनकी प्रवृत्ति विद्यमान नहीं होती। इससे एकनिष्ठता आ जाती है। बाह्य विषयोंकी ओर संवेदना विश्रान्त हो जाती है जिससे रसास्वादनमें एकतानता आ जाती है। इस प्रकार सभी लौकिक विघ्नों और स्वसत्तानुभूतिकी विश्रान्ति ही रसास्वाद-प्रवर्तिका होती है। किन्तु इस रसास्वादमें अवचेतन मस्तिष्कमें विषयोंका अवभास बना ही रहता है। लौकिक अवभास तिरोहित हो जानेपर भी सहृदयता तो विद्यमान रहती है। अतः यह काव्यानन्द सगुण सविकल्पक ही कहा जा सकता है। ब्रह्मानन्दमें विषयोंका सर्वथा तिरोभाव हो जाता है। उसमें शुद्ध संवेदन रूपता ही होती है। इसी कारण काव्यानन्दको ब्रह्मानन्दका अद्वैत न मानकर ब्रह्मानन्द सहोदर ही माना गया है। सारांश यह है कि संविद्विश्रान्ति ही आनन्दकी प्रयोजिका होती है। यह विभिन्न भूमिकाओंमें सम्भव है—विषयोंकी भूमिकामें, भावोंकी भूमिकामें और निज चित् स्वभावकी भूमिकामें। भावोंकी भूमिकामें होनेवाली संविद्विश्रान्ति ही काव्या-रसानन्द है। इन भावोंकी भूमिकामें संविद्विश्रान्ति तक पहुँचने के लिए भावोंका साधारणी-करण अपेक्षित होता है।

अभिनवगुप्तके सिद्धान्तका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति। यह समस्त लौकिक प्रतीतियोंसे विलक्षण होती है क्योंकि इसमें कल्पनाशीलता का भी योग विद्यमान रहता है। जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथोंमें अभिधानपरक वाक्योंसे अर्थ की तन्मात्र विश्रान्ति नहीं होती, अपितु प्रेरणापरक अर्थान्तरकी अभिव्यक्ति होने लगती है जिसको प्रतिभान, भावना, विधि, नियोग इत्यादि अनेक नामोंसे अभिहित किया जाता है उसी प्रकार काव्य वाक्योंसे भी अर्थमात्रकी विश्रान्ति नहीं होती अपितु इनमें

[illegible] अवगत होता है उस समस्त विभावादि तत्वका लय होकर एक [illegible] जाती है यह प्रतीति ऐसे ही सहृदयोंके अन्तःकरणमें [illegible] होती है जो काव्य रसास्वादनके अधिकारी तथा विमल प्रतिभाशाली [illegible] कारण पर्याप्त सहृदयोंमें रसका संचार करनेवाली होती है।

[illegible] रसास्वादनकी प्रवर्तिका होती है। अभिनवगुप्तने रसास्वादनके मार्गमें आनेवाले सात विघ्नोंका निरूपण किया है और उनके अपनयनपर भी प्रकाश डाला है। [illegible] विघ्नोंमें कुछ तो वे दोष आजाते हैं जिनसे मनुष्यका हृदय विश्वजनीनताको छोड़कर [illegible] हो जाता है, या फिर वे दोष आते हैं जिनसे उपकरणोंकी स्पष्ट प्रतीति [illegible] हो जाती है। इन विघ्नोंसे रहित हो जाना रसास्वादनकी योग्यताके लिए अनिवार्य है।

अभिनवगुप्तने इसी प्रसङ्गमें स्थायी भाव और सञ्चारी भावके भेदक तत्वोंका भी निरूपण किया है। प्राणी जिन संवेदनाओंसे जन्मसे ही व्याप्त होता है और जिन चित्त-वृत्तियोंमें [illegible] वे चित्तवृत्तियाँ स्थायी भाव कहलाती है। इसके प्रति-कूल दूसरे प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ वे होती है जिनकी सत्ता ही विभावादिके अभावमें सम्भव नहीं होती। विभावादिके विनष्ट होजाने पर स्थायी चित्तवृत्तियाँ संस्कार-शेष अवश्य रह जाती है, किन्तु व्यभिचारिणी चित्तवृत्तियाँ नाम-शेष भी नहीं रहती। व्यभि-चारिणी चित्तवृत्तियाँ स्थायी चित्तवृत्तियोंमें उसी प्रकार अनुस्यूत रहती हैं जिस प्रकार विभिन्न रत्नोंके सूत्रमें पद्मरागादि अनुस्यूत रहा करते है। ये व्यभिचारी रूप रत्न स्थायी रूप सूत्रमें यद्यपि अपने संस्कारोंका सन्निवेश नहीं पाते और न इनसे उसमें कोई अन्तर ही आता है, तथापि उस सूत्रसे ये स्वयं उपकृत होते हैं और उसको विचित्र बना देते है। स्थायी भाव वासना रूपमें निरन्तर सन्निहित रहते ही है, विभावादि केवल उपरञ्जकत्वका सम्पादन करते हुए स्थायीके औचित्य-अनौचित्यका ही सम्पादन कर देते हैं। विभावादिके अभावमें स्थायीकी सत्ता सर्वथा तिरोहित नहीं हो जाती। किन्तु, विभावादिके अभावमें सञ्चारी भावोंका तो नाम भी नहीं रहता।

वासनारूपमें सन्निहित स्थायी भावोंके प्रत्यायक लिङ्ग होते हैं—कार्य कारण और सहकारी कारण। उदाहरणकेलिए तरुण-तरुणियोंका एकत्र सहचार, उनकी हावभाव चेष्टाएँ और लज्जा इत्यादि भाव दर्शककों उनके परस्पर प्रेम-बन्धनका अनुमान करा देते है; जिन लोगोंको निरन्तर इस प्रकारके अनुमानकी अभ्यासपटुता प्राप्त हो जाती है, काव्यमें भी उन्ही कारणो, कार्यों और सहकारियोंका उपादान होता है। किन्तु काव्यमें एक अलौकिकता होती है। लोकमें कोई भाव प्रवर्तक होता है और उसमें भावान्तरजननक्षमता होती है। काव्यमें उपात्त होकर वही भाव आस्वादजनक तथा स्वमात्र विश्रान्त होता है। इसी आधार पर कारण, कार्य और सहकारी कारणका नाम बदलकर उनको विभाव, अनु-भाव और सञ्चारी भावके नामसे अभिहित किया जाने लगता है। अब ये सामाजिककी बुद्धिमें गौण या प्रधानके पर्यायसे संयोग प्राप्त कर लेते है तब जो अर्थ अलौकिक निर्विघ्न संवेदनारूप आस्वाद-गोचरताको प्राप्त करा दिया जाता है उसे ही रस कहते हैं यह रस स्थायी भावसे विलक्षण होता है क्योंकि स्थायी भाव सिद्ध स्वभाव वाला होता है किन्तु

रसका एकमात्र सार होता है चर्वणके योग्य होना [illegible] अास्वादकालिक होता है, किन्तु स्थायी भाव सहृदयोंमें निरन्तर [illegible] तत्त्व है।

ऊपर संक्षेपमें अभिनवगुप्तकी रस-विषयक मान्यताका सार दिया गया [illegible] आचार्योंमें यही मान्यता सिद्धान्त रूपमें मान्य हो गई। [illegible] इसी मान्यताकी पुष्टि की है।

मूलभूत प्रवृत्तियोंमें सन्निविष्ट न होनेके कारण [illegible] स्थायी माना और न उसकी रसात्मक अनुभूति ही स्वीकार की। [illegible] काव्य भावकोटिमें ही आनेका अधिकारी है, रस कोटिमें नहीं। [illegible] शान्त रसको इन्होंने स्वीकार किया था जिसमें विषय-वैराग्यके साथ [illegible] प्रयोजनीय तत्त्व था। इन आचार्योंके मतमें यही भक्तितत्त्व कहा जा सकता है।

भक्तिरसका प्रवृत्ति-निमित्त

उस समय भक्ति-काव्यके नाम पर जो नई कविता [illegible] शास्त्रीय दृष्टिसे समझना नितान्त आवश्यक था। यद्यपि इस प्रकारकी [illegible] काव्य-जगत्में अत्यन्ताभाव तो नहीं था, किन्तु वह परिमाण [illegible] दृष्टियोंसे इतनी न्यून थी कि प्राचीन आचार्योंने जिस [illegible] विश्लेषण-विवेचन किया था उसमें भक्तिको प्रमुख या गौण [illegible] करनेकी आवश्यकता ही नहीं समझी। केवल इतनी ही बात होती तो भी [illegible] थी। भक्तिको नवीन रस मानकर निर्वाह किया जा सकता था। भरतमुनिने केवल आठ रस माने थे। परवर्ती आचार्योंने शान्त रसको जोड़कर उनकी संख्या नौ की ही थी। [illegible] वात्सल्य रसकी आवश्यकताका अनुभव किया था उसको भी [illegible] मान्यता मिल ही गई थी। अतएव भक्तिके क्षेत्रमें भी [illegible] सकता था कि उसको भी ग्यारहवें रसका स्थान दे दिया जाता और [illegible] स्वीकृति हो जाती। अलङ्कारोंके विषयमें स्वयं अभिनवगुप्तने लिखा है कि मुनिने केवल चार अलङ्कार माने थे, किन्तु अलङ्करण धर्मको लेकर तथा [illegible] लक्षणके आधार पर सैकड़ों अलङ्कार बन गये। इसी प्रकार [illegible] सामान्य धर्म तथा लक्षणको लेकर एक नये भक्तिरसकी कल्पना और [illegible] सकती थी। किन्तु ऐसा करनेमें कई आपत्तियाँ थीं। रस निष्पत्तिका जो [illegible] अभिनवगुप्त द्वारा स्थापित किया गया था वह भक्ति-रसके विषयमें पूर्ण रूपसे [illegible] नहीं होता था और न उसके द्वारा भक्ति-काव्यकी ठीक व्याख्या ही की जा सकती थी। यही कारण था कि भक्ति साहित्यके आचार्योंको रसकी नवीन दिशा [illegible] पड़ी।

रस निष्पत्तिमें साधारणीकरण और संविद्विश्रान्तिका जो सिद्धान्त स्थापित किया [illegible] या था उससे भक्तिकाव्य-जन्य रसास्वादनकी व्याख्या किञ्चित् असम्भव थी। अभिनवगुप्त [illegible] अनुसार समस्त चित्तवृत्तियोंका विलय प्रधान नायककी चित्तवृत्तिमें हो जाता है और [illegible] प्रधान नायककी चित्तवृत्ति साधार [illegible] प्रक्रियासे अपने अन्दर समस्त सहृदयोंकी

चित्रवृत्तियोंको ... कृत करती हुई आस्वाद प्रवर्तक बन जाती है यह साधारणीकरण पूर्ण तथा विनत होता है, सामित नहीं। उस समय समस्त विभाव, अनुभाव इत्यादि तिरोहित होकर साधारणीकृत भावमात्र शेष रह जाता है। उस समय सहृदयकी चितिकी बहिर्गामिता नष्ट हो जाती है और मुख्य नायककी चित्तवृत्ति ही शेष रह जाती है। यही सम्विद्विश्रान्ति है। आचार्य शुक्लके अनुसार उस समय सहृदयकी सत्ता ही हवा हो जाती है और उसकी परिणति भावमय दशाको प्राप्त हो जाती है। किन्तु भक्तिके क्षेत्रमें एक अड़चन यह है कि वहां हम कृष्ण लीलाओंका आनन्द लेते हैं। राधाकृष्णकी रति या यशोदाके वात्सल्यके रूपमें हमारे हृदयकी परिणति नहीं होती, अपितु उससे हमारी भगवद्विषयक रति ही जागृत होती है। प्रधान नायककी चित्तवृत्ति वहाँ हमारी अन्तर्वृत्तियोंको आत्मसात् नहीं करती, अपितु हमारी भगवद्विषयक रतिकी उद्दीपन मात्र बन जाती है। वहाँ कविका मन्तव्य राधाकृष्ण या सीतारामका स्वरूप-प्रच्छादन नहीं, अपितु उसको उभारना होता है। फलतः जितना ही हम कृष्णकी राधाके प्रति रतिका परिशीलन करते हैं, हमारी भक्ति-भावना उतनी ही उद्दीप्त होती जाती है। इस प्रकार भक्तिके क्षेत्रमें हम अमिश्रित भावनाका आस्वादन नहीं करते अपितु कृष्ण-भावनासे मिश्रित भक्तिभावका आस्वादन किया जाता है जोकि प्राचीनोंकी रसनिष्पत्ति विषयक धारणासे संगत नहीं होती। आशय यह है कि कृष्ण-लीलाओंके मध्य रह-रहकर भक्तकी जो भावना प्रोद्भूत होती रहती है और उपास्त-भावके अतिरिक्त सहृदयगत जो कृष्ण-प्रेम तल पर आ जाता है उसके लिए प्राचीनोंकी मान्यतामें कोई सन्तोषजनक व्याख्या विद्यमान नहीं है। भक्तिके रसनके क्षेत्रमें प्राचीनाभिमत अधिकसे अधिक इतनी व्याख्या हो सकती है कि प्रशस्ति काव्यके समान कृष्णलीला भक्तोंके भावकी उद्दीपक होकर रसवदलंकारका रूप धारण कर लेती है। किन्तु यहाँ आपत्ति यह है कि ऐसी दशामें कृष्णलीला गौण हो जाती है जोकि भक्त कवियों और भक्ति-शास्त्रके आचार्योंको स्वीकृत हो ही कैसे सकता है? भक्तिकी प्रमुखताके साथ कृष्ण-लीलाकी प्रधानता भी इन आचार्योंको अभीष्ट है जिसकी कोई व्यवस्था प्राचीन रसशास्त्रमें प्राप्त नहीं होती।

अभिनवगुप्तके मतमें सहजात-चित्तवृत्तियाँ लोकवृत्त-परिनिष्ठित होकर जब सहृदयोंके लिए अभ्यस्त हो जाती है तब विभावादिके माध्यमसे रंगमंच पर अवतीर्ण होकर वे ही सहृदयोंके आस्वादनमें कारण बन जाया करती हैं। किन्तु, भक्ति एक तो सहज चित्तवृत्ति नहीं है, दूसरे उसके अनुभाव भी इतने उद्भूत नहीं होते जिनको देखकर सहृदय उसके अनुमानका अभ्यास प्राप्त कर सकें। तीसरी बात यह है कि उद्धव इत्यादिके प्रसंगमें जहाँ कहीं रंगमंच पर भक्तिका अभिनय किया जाता है उसकी तो व्याख्या हो सकती है, किन्तु जहाँ राधा-कृष्णके रतिभावका अभिनय किया जाता है वहाँ रंगमंच पर प्रत्यक्ष रूपमें भक्तिभाव अवतीर्ण ही नहीं होता जिससे उसका आस्वादन किया जा सके। किन्तु उसका आस्वादन किया ही जाता है जिसका उत्तर प्राचीन रसशास्त्रियोंके पास नहीं है।

रस-तत्त्वचिन्तन नाट्यके प्रसंगमें ही हुआ है। इसीलिए इस चिन्ताधारामें अभिनयका विचार सर्वदा पृष्ठभूमिके रूपमें सन्निहित रहा है। काव्यके क्षेत्रमें भी रसतत्त्वको अनिवार्य बनानेके लिए आचार्योंने अ[illegible] स्थान गुणालंकार प्रयोगको दे दिया इससे बहुत

कुछ निर्वाह हुआ भी; किन्तु नाट्यकी पृष्ठभूमिका विशेष परिष्कार नहीं हो सका। भक्तिके क्षेत्रमें नाट्य-रचनाकी ओर प्रवृत्ति प्रायः नहीं ही रही, अधिकतर काव्य-रचना ही की गई। इन्हीं सब कारणोंसे भक्तिकाव्यको रसशास्त्रकी दृष्टिसे सर्वथा संतोषजनक बनानेके लिए इस शास्त्रके पुनराख्यानकी आवश्यकता बनी हुई थी। यह कार्य [illegible] आचार्यों द्वारा सम्पन्न किया गया।

भक्तिरसका प्राचीन शास्त्रसे भेदाभेद

भक्तिरसकी रसरूपता और उसकी प्रक्रिया पर विचार करनेसे पहले यह नितान्त आवश्यक है कि प्राक्तन रस सिद्धान्तकी भक्तिरसके प्रति उपजीव्यता पर विचार कर लिया जाय; क्योंकि भक्तिरसकी परिकल्पना नवीन होते हुए भी प्राचीन रस-सिद्धान्तसे सर्वथा विनिर्मुक्त नहीं है और इस शास्त्रकी प्रतिष्ठापना भी पूर्वपीठिका पर ही हुई है।

प्राक्तन रससिद्धान्तकी भक्तिरसके प्रति उपजीव्यता

गौडीय सम्प्रदायका यह भक्ति-रस सिद्धान्त स्थूलरूपमें प्राक्तन रस सिद्धान्तसे पूर्णतया प्रभावित है और उसीको आदर्श मानकर प्रवृत्त हुआ है। 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह रस-तत्त्वका सिद्धान्त सूत्र है। 'किमात्मको रसः ?' इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्योंने निर्णीत किया है—'स्थायी भावः।' सूत्रमें स्थायीके उपादान न करनेका पूर्ण समर्थन श्री अभिनवगुप्तपादाचार्यने किया है। एक परवर्ती आचार्यकी रस-परिभाषा इसी तत्त्वसे अनुप्राणित है :—

> विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
> रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥

इसीसे मिलती-जुलती परिभाषा प्रस्तुत पुस्तक में भी दी हुई है :

> विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
> स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः॥
> एषा कृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत्।

इस परिभाषामें नवीनता केवल यही है कि सात्त्विकोंके द्वारा स्थायी-पोषणका पृथक् उपादान किया गया है और केवल रतिस्थायीकी रसरूपता स्वीकार की गई है। रसके विषयमें भक्तिरसशास्त्रियोंकी ये दो मौलिक कल्पनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त उक्त परिभाषा मे कोई नवीनता नहीं है। प्राक्तन रसशास्त्रमें वासनामय रसिकोंको रसास्वादनका अधिकारी बतलाया था। इस शास्त्रमें भी भक्तिकी वासनासे वासित अन्तःकरणवालोंको ही भक्ति-रसास्वादनका अधिकारी बतलाया गया है; केवल उसी तथ्यको कुछ अधिक शब्दोंमें विश्लेषणपूर्वक कह दिया गया है। विभावानुभावादिकी परिभाषाएँ भी वही हैं और इनके नामकरणके हेतु भी कुछ शब्द-भेदसे मिलते-जुलते ही हैं। सर्वत्र सात्त्विकोंका पृथक् निर्देश किया गया है जिससे इस प्रश्नका ठीक उत्तर भी हो जाता है कि सात्त्विकोंको अनुभावोंमें सन्निविष्ट किया जाय या संचारियोंमें। इनकी द्विधास्थितिके कारण इनको विशिष्ट स्थान देना सर्वथा संगत ही है। किन्तु इतनेसे ही प्रसिद्ध पद्धति का व्यतिरेक प्रतिपादित नहीं किया

जा सकता। विभावोंकी द्विप्रकारता भी वैसी ही है और उनका स्वरूप भी मिलता-जुलता ही है। अपनी साम्प्रदायिक मान्यताके अनुसार केवल कृष्णको नायक कहा गया है किन्तु उपलक्षणपरक व्याख्या करने पर प्रसिद्ध पद्धतिके निकट इस विचारसूत्रको लाया जा सकता है। इस पद्धतिमें इस प्रश्नका भी ठीक समाधान हो जाता है कि भगवान्के किन गुणोंको आलम्बनके अन्तर्गत लाया जाय और किन गुणोंको उद्दीपनके अन्तर्गत। यह विषय प्रसिद्ध सिद्धान्तसे विरुद्ध नहीं है, इसलिए तद्व्यतिरिक्त नहीं कहा जा सकता। इसमें कृष्ण तथा तद्भक्तोंके साधारण गुण, गिरिशादिसे साम्य, विष्णुसे साम्य और कृष्णके स्वमात्र पर्यवसित गुणोंका प्रकथन साम्प्रदायिक अभिनिवेशजन्यमात्र है, इसे हम नवीन परिकल्पना नहीं कह सकते। प्रसिद्ध पद्धतिमें नायिकागत २८ अलंकारोंका निरूपण किया गया है, जिनमें अनेकका नायकगत होना भी सिद्धान्तित किया गया है। इसी आधार पर कृष्णगत सात्त्विक अलंकारोंका भी विवेचन है। इस सिद्धान्तमें केवल नवीनता यही है कि सभी आलम्बनोंके उदाहरण भक्तोंसे ही दिये गए हैं जोकि भक्तिरसशास्त्र लिखनेके लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। उपलक्षणपरक व्याख्या प्रसिद्ध पद्धतिसे अद्वैत स्थापित कर देती है। उद्दीपनोंके प्रसंगमें कृष्णकी वेषभूषा, वयःस्थिति इत्यादिका जो वर्णन आता है उसका भी रसशास्त्रके क्षुण्ण मार्गसे कोई विरोध नहीं पड़ता। अनुभावोंके निरूपणमें यदि कोई नवीनता है तो केवल इतनी ही कि इनका विभाजन दो रूपोंमें किया गया है—शीत और क्षेपण। सात्त्विक भावोंका वर्गीकरण ही नवीन है। वैसे उनकी संख्या, परिभाषा, कार्यकारणभाव इत्यादि में कोई अधिक लक्षणीय अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। इनको अनुभाव तथा संचारी दोनोंसे पृथक् स्थान देना भी एक ऐसी नवीनता है जिसकी आवश्यकता प्राचीन रसशास्त्रमें भी अनुभव की जा रही थी। धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त रूपमें सात्त्विकोंका विभाजन यद्यपि पूर्ववर्ती रसशास्त्रमें प्राप्त नहीं होता तथापि उसका विरोध भी नहीं है। संचारियोंकी संख्या और उनकी परिभाषा प्राचीन रसशास्त्रानुकूल ही है। इस संख्याको अधिक पुष्ट करनेके लिए आचार्यने कतिपय नवीन संचारियोंकी परिकल्पना कर उनका अन्तर्भाव इन्हीं ३३ संचारियोंमें करनेकी चेष्टा की है। संचारियोंमें एक-दूसरेकी विभावरूपता और अनुभाव-रूपताका प्रतिपादन नवीन दृष्टिका परिचायक है। परन्तु इसे भी अविरोधी होनेके कारण प्राचीन रसशास्त्रसे व्यतिरिक्त नहीं कहा जा सकता। भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलताका विवेचन भी प्रसिद्ध पद्धतिके अनुकूल ही है।

रसों और स्थायी भावोंकी परिकल्पना यद्यपि सर्वथा नवीन है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इस पर प्राचीन शास्त्रका प्रभाव नहीं है। केवल वर्गीकरण तथा कृष्णसम्बन्ध से सभी रसोंका पुनराख्यान नवीन है। रसोंकी मैत्री-वैर-स्थिति भी प्राचीन रसशास्त्र पर ही आधारित है और उनके परस्पर वैर-परिहारका निरूपण भी उसी शैली पर किया गया है। रसाभासमें भी यत्किंचित् ही मौलिकता है। प्राचीन आचार्य रसाभास वहाँ पर मानते थे जहाँ रसकी पूर्ण निष्पत्ति न हो सके। परवर्ती आचार्योंने अनौचित्यके प्रतिभासमें रसाभास माना। किन्तु, भक्तिरसशास्त्रमें दोनों प्रकारोंको अपनाया गया है। उनका तीन प्रकारोंमें विभाजन अधिक व्यवहित नहीं है और दोनों मान्यताओंको आत्मसात् कर लेता है।

आशय यह है कि रससामग्रीका विवेचन प्रसिद्ध पद्धति पर ही आधारित है उसमें

जो कुछ मौलिकता पाई जाती है वह इस विचारसरणिको प्रसिद्ध पद्धतिसे सर्वथा पृथक् सिद्ध करनेमें सर्वथा अक्षम है।

भक्ति-सम्प्रदाय की रस-प्रक्रिया

आनन्द-साधना ही रसतत्त्वका चरम लक्ष्य तथा लक्षण है। भरतनाट्यशास्त्रका भी यही मत है और भक्तिसम्प्रदायके आचार्य भी इस मान्यताके विरोधी नहीं हैं। अतः श्रुतियाँ आनन्दकी ही आत्मरूपताका प्रतिपादन करती हैं—'रसो वै सः', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'आनन्दाद्ध्येवेमानि भूतानि जायन्ते।' जीवनका परम पुरुषार्थ भी आनन्द ही है। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिका भी समावेश आनन्दमें ही हो जाता है। पुरुषार्थके रूपमें जिन धर्मादिका परिगणन किया जाता है उनका भी फल आनन्द ही है। आनुषंगिक लक्षणोंके मतमें कारणों पर फलका आरोपकर धर्मादिकी पुरुषार्थता स्वीकार कर ली जाती है। यह एक औपचारिक प्रयोग है जैसा कि 'घी जीवन है' में पाया जाता है।

आनन्दका अधिष्ठान आत्मा है। इसके दो रूप माने गये हैं परमात्मा तथा जीवात्मा। आनन्दका वास्तविक अधिष्ठान तो परमात्मा ही है; किन्तु जीवात्मामें भी सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मका अंश विद्यमान है और आनन्दांशका प्रतिभास जीवमें भी पाया जाता है; इसीलिए अग्निके विस्फुलिंगोंके समान या सिन्धुके बिन्दुओंके समान जीवमें भी आनन्दानुभूतिकी उपलब्धि अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु, यह आनन्द एक तो विषयजन्य होता है, दूसरे यह क्षणमात्र होता है। भरत प्रभृति रसशास्त्राचार्योंका लक्ष्य इसी जीवगत आनन्दांशका उद्बोधन है। जीव अनादि कालसे नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अनेक वासनाओंसे परिव्याप्त हो जाता है। मानव-शरीरमें भी ये समस्त वासनाएँ अविकल रूपमें सन्निहित रहती है। साथ ही काव्यार्थचिन्तनकी योग्यता भी मानवमें उद्बुद्ध हो जाती है। अतः विभावादिके माध्यमसे रसास्वादनकी प्रक्रिया पर विचार करना ही भरतादि रसाचार्योंका लक्ष्य है। वस्तुतः यह परमास्वादकी पूर्वभूमिका ही है और विषयसुखाभिलाषी जनोंके लिए अधिक सुगम है। परमतत्त्वगत पूर्ण आनन्दानुभूति अपेक्षाकृत दुर्लभ है। इसीलिए भरतादि आचार्योंने न तो निःश्रेयस प्राप्तिमें समर्थ श्रवणादि साधनों पर विचार किया और न निखिलानर्थ निदान अज्ञानके उन्मूलन पर ही विचार किया। उन्होंने निरवशिष्ट कर्म-कलापका अत्यन्ताभाव करनेकी चेष्टा नहीं की। मुनिने आगमसिन्धुको मथकर जिस नाट्य-पीयूषका आविर्भाव किया उसका लक्ष्य जीवगत आनन्दांशका आस्वादन कराना ही था जोकि पूर्ण ब्रह्मानन्दकी पूर्व-भूमिका ही कही जा सकती है। इस प्रकार आनन्द साधनाका लक्ष्य होते हुए भी प्राक्तन आचार्यों और भक्तिरसके आचार्योंमें एक मौलिक अन्तर है। भक्ति-शास्त्रके आचार्योंने जीवगत अंशमात्र आनन्दको ही साध्य नहीं बनाया अपितु उनका लक्ष्य था आनन्द-राशि भगवद्गत आनन्दका आस्वादन कराना। पूर्ण रसमयताप्राप्ति तो तभी होती है जब परमानन्दस्वरूप भगवान् स्वयं ही मनोगत हो जाते हैं, जैसा कि श्रीमधुसूदन सरस्वतीने कहा है—

'भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
रसतामेतिपुष्कलम्।'

चित्त जब वित होकर विभु नित्य पूर्णबोध सुखात्मक भगवानको ग्रहण कर लेता है तब और शेष ही क्या रह जाता है ?

'भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम् ।
यद् गृह्णातिद्रुतं चित्तं किमयदवशिष्यते ॥'

अतः चित्तमें विषयकी ओर काठिन्य और भगवच्चरणारविन्दके प्रति द्रवत्व स्थापित करना चाहिए —

'काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे ।
उपायैः शास्त्रनिर्दिष्टैरनुक्षणमतो बुधः ॥'

किन्तु भक्ति-सम्प्रदायका यह सिद्धान्त भरतका विरोधी नहीं है, अपितु उसका विकास मात्र है । विषयोंकी ओर मानवकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है । अतः उनमें रसास्वादन अपेक्षाकृत सरल होता है । इसी सरल मार्गको अपनाकर भरतने परम रसास्वादके मार्गको प्रशस्त किया है । क्योंकि जब तक मानव-मनोवृत्ति उस परमरसास्वादके एक अंशमात्र लौकिक रसमें पूर्णतया निष्णात नहीं हो जाती तब तक परमरसास्वादकी स्पृहयालुता उनमें जागृत ही किस प्रकार हो सकती है ? इस प्रकार प्रथमभूमिकारूढ़ अधिकारियोंके लिए प्राकृत रस परिचयको ही अपना लक्ष्य बनाकर मुनिने परमतत्त्व-विषयक अप्राकृत रसकी भी स्वीकृति प्रदान ही कर दी है । इसीलिए उपक्रममें मुनिने चतुर्वर्ग फल-प्राप्तिको ही प्रयोजनके रूपमें स्वीकार किया है और इसीलिए पृथक् रूपसे शान्तका भी निरूपण किया है ।

लक्ष्यभेद होनेसे निष्पत्ति तथा आस्वादमें भी भेद होना स्वाभाविक ही है । इस निष्पत्ति के विषयमें जितनी भी पुरानी व्याख्याएं पाई जाती हैं वे भक्तिरस विषयक निष्पत्ति की व्याख्यासे मेल नहीं खातीं । यह भट्टलोल्लटके उत्पत्तिवाद या आरोपवाद से भी भिन्न है जिसमें विभावादि कारणोंके साथ स्थायी भावके संयोगके द्वारा अनुकार्यमें रसकी उत्पत्ति मानी जाती है और नट पर उसका आरोप प्रतिपादित किया जाता है, तथा शंकुकके अनुमिति-वादसे भी भिन्न है जिसमें अनुकार्य मुख्य रामादिके रूपमें गृहीत नटरूप पक्षमें अकृत्रिम रूपमे गृहीत विभावादिरूप हेतु से अनुकार्यभिन्न नटमें रतिका अनुमान कर लिया जाता है । इन दोनों पक्षोंमें आचार्यों द्वारा प्रदर्शित विप्रतिपत्तियाँ तो विद्यमान हैं ही; साथ ही भक्तिरसकी दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि इसमें भक्तका अपना भाव ही आस्वादगोचर होकर रसरूपताको धारण कर लेता है । न तो इसकी उत्पत्ति अनुकार्यमें ही होती है और न नटमें ही पक्षधर्मता (हेतु) का ग्रहण सम्भव होता है । दूसरी बात यह भी है कि पक्षधर्मताका ग्रहण या नट पर अनुकार्यगतभावका आरोप नाट्यमें तो सम्भव है, भक्तिके क्षेत्रमें जहाँ रसानुभूतिमें कर्तृत्व श्रवणादि पर आधारित रहता है यह प्रक्रिया कैसे सम्भव हो सकती है ? इसीलिए भट्टनायककी भावकत्व और भोजकत्व रूप दो व्यापारोंकी नवीन कल्पना भी अधिक कृतकार्य नहीं होती है जिसमें एकके द्वारा विभावादिका साधारणीकरण किया जाता है और दूसरेके द्वारा सत्त्वोद्रेक मे होनेवाली प्रकाशात्मिका तथा आनन्दात्मिका संविद्विश्रान्ति सिद्धकी जाती है और इस प्रकार रसका भोग किया जाता है, न अभिनवगुप्त के सहजात मनोभावके आस्वादनसे ही निर्वाह हो सकता है कारण यह है कि

अन्य पात्रोंके भावोंका प्रधानपात्रके भावमें विलय और प्रधानपात्रगत भावको सहृदयगत भावसे एकतानताका सिद्धान्त भक्तिरसके विषयमें लागू नहीं होता। भक्तिरसमें भाव, आश्रय भक्त ही होता है नाट्यगत पात्र नहीं, जैसा कि लौकिक रसमें होता है। लौकिक रसमें शृंगाररसके आश्रय दुष्यन्त होंगे और आलम्बन शकुन्तला; जबकि भक्तिरसके क्षेत्रमें कृष्ण और राधा दोनोंका विवेचन आलम्बनके प्रकरणमें किया जाता है, आश्रय तो भक्त ही होता है। इन्हीं कारणोंसे भक्तिरसानुयायियोंको रसानुभूतिकी नवीन प्रक्रियाकी परिकल्पना करनी पड़ी है।

भक्तिरसके क्षेत्रमें सर्वाधिक नवीनता स्थायी भावकी परिकल्पनामें है। न तो भक्ति रसके आचार्यका भक्तिके विषयमें यही दावा है कि 'जायमान एव हि जन्तुरियद्भिः संविद्भिः परीतो भवति' और न यही कहा जा सकता है कि 'नह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति।' ये आचार्य केवल एक स्थायी भाव स्वीकार करते हैं—और वह है भक्ति। यह भाव उपार्जित तथा संवर्धित भाव होता है। प्राक्तन संस्कारोंके प्रभावसे जन्मजात भी हो सकता है, किन्तु अधिकांशमें इसका उपार्जन ही करना पड़ता है। यद्यपि ये आचार्य भक्तिको भी नित्यसिद्ध भाव ही मानते हैं; किन्तु रति इत्यादि भावोंके समान भक्ति स्वतः प्रकट नहीं हो जाती; उसको प्रकट करनेके लिए साधना अपेक्षित होती है...

'नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता।' पू० वि० २.२

प्राक्तन संस्कारोंके प्रभावसे भक्ति जन्मजात भी हो सकती है, किन्तु उसका प्राचुर्य तो साधनाजन्य ही होता है। साधनाके जिस क्रमसे भक्तिका उदय होता है उसका निरूपण निम्नलिखित कारिकाओंमें किया गया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥ पू० वि० ४-६, ७

निष्ठापर्यन्त साधनावस्था है, रुचि और आसक्ति मध्यवर्तिनी अवस्थाएँ हैं जिनके बाद क्रमशः भाव और प्रेम उद्भूत होता है। भावको ही रतिकी संज्ञा दी जाती है और प्रेम पुष्टा भक्तिका दूसरा नाम है। इस क्रमिक विकासका श्री मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार निरूपण किया है—योग चार प्रकारका माना जाता है: कर्मयोग, अष्टांगयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कहीं-कहीं केवल तीन ही योगोंका वर्णन मिलता है: कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। ऐसे स्थान पर अष्टांगयोगको कर्मयोगमें ही सन्निविष्ट कर दिया जाता है। कर्मयोग शास्त्रविहित वर्णाश्रम धर्मको कहते हैं जिसमें भगवदर्पित-धर्मादिपरक धर्म भी आ जाते हैं। भक्तिशास्त्रकी भाषामें इसे वैधी साधनाभक्ति कहेंगे। इस कर्मयोगका फल होता है अन्तःकरणशुद्धि। अतः कर्मयोगका अनुष्ठान तभी तक करना चाहिए जब तक अन्तःकरण की शुद्धि सम्पन्न न हो जाए। अन्तःकरणकी शुद्धि दो रूपोंमें हो सकती है: एक तो वे लोग होते हैं जिनका हृदय पाषाणवत् नीरस होता है; धर्मानुष्ठानसे उनके हृदय द्रवित नहीं होते; उनकी चित्तशुद्धि निर्वेदपूर्वक तत्त्वज्ञानके रूपमें होती है; किन्तु जिनके हृदय भगवद्वासनासे वासित होते हैं भगवत्कथा श्रवणादिसे उनके हृदय द्रवित हो उठते हैं और

उ। [illegible] भागवतप्रेमके साथ भक्तिका उदय हो जाता है। ज्ञानयोगका भी अंतिम लक्ष्य भक्तियोग [illegible] ही है। यदि भक्तियोगकी उत्पत्ति न हो तो ज्ञानयोग व्यर्थ हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि सांख्यमें जिन २५ तत्त्वोंका निरूपण किया गया है उनके अनुलोमक्रमसे जगत्की उत्पत्तिका चिन्तन और प्रतिलोमक्रमसे लयका चिन्तन तभी तक करना चाहिए जब तक मन निर्मल होकर भक्तिके योग्य न हो जाए। तत्त्वचिन्तनसे जब मन निर्विण्ण हो जाता है और साधक तत्त्वज्ञानसे युक्त हो जाता है तब उसके मनका दौरात्म्य स्वतः तिरोहित हो जाता है।

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया॥

श्रीमद्भागवत ११-२०-२३

मनःप्रसार भक्तियोगके बिना सम्भव ही नहीं है। श्रीमद्भागवतमें ही कहा गया है कि जो व्यक्ति निरन्तर भक्तियोगसे भगवद्भजन करता रहता है उसके हृदयमें भगवान् स्वतः आ जाते हैं और उसकी हृद्गत सभी काम-वासनाएं समाप्त हो जाती हैं। इस सबका आशय यही है कि कर्मयोगकी भांति ज्ञानयोगका भी अन्तिम लक्ष्य भक्तिको प्राप्त कर लेना ही है। कहीं-कहीं भक्तिको ज्ञानका साधन भी बतलाया गया है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि भक्तिके दो रूप होते हैं—साधनभक्ति और भाव तथा प्रेमभक्ति। साधनभक्ति ज्ञानयोगका कारण होती है और भाव तथा प्रेमभक्ति ज्ञानयोगसे उद्भूत होती है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा गया है कि भक्तका श्रेय न तो ज्ञानसे होता है न वैराग्यसे। कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, दान, धर्म इत्यादिसे जो भी स्वर्ग मोक्ष इत्यादि फल प्राप्त होते हैं, मेरा भक्त भक्तिकी महिमासे ही सभी कुछ प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह भक्तिके अतिरिक्त कुछ चाहता ही नहीं। मैं यदि उसे कुछ देना भी चाहूँ तब भी वह उसे स्वीकार ही नहीं करता। यही भक्तिका क्रमिक उपार्जित भाव है। कभी-कभी प्राक्तन संस्कारों के प्रभावसे साधनाकी निरपेक्षतामें भी भक्तिकी उत्पत्ति देखी जाती है, किन्तु एक तो ऐसा बहुत कम होता है, दूसरे पूर्वजन्मोंकी साधना ही उस भक्तिमें भी हेतु होती है। इस प्रकार भक्ति एक उपार्जित भाव है।

अब विचार यह करना है कि भक्तिको स्थायी भावकी संज्ञा क्यों और किस प्रकार प्राप्त होती है। वस्तुतः पूर्ण भक्ति तो प्रेमाभक्ति ही है। उसकी पूर्वकोटि रति या भाव-भक्तिको ही स्थायी भावकी संज्ञा प्राप्त हो जाती है। तीव्र तथा परिवृद्ध रति ही प्रेमाभक्ति बन जाती है। एक दूसरा अन्तर यह भी है कि रतिको रसरूपता धारण करनेके लिए विभावादि परिपोषकों की नितान्त अपेक्षा होती है, किन्तु प्रेमाभक्ति उनके अभावमें भी स्वसत्तासे ही रस बन जाती है। जब तक स्थायी भाव रसरूपताको धारण नहीं करता तब तक वह भावसंज्ञाका ही अधिकारी रहता है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु'के भाव प्रकरणमें संचारी भाव और स्थायी भाव दोनोंको भाव-संज्ञासे अभिहित किया गया है। भावाभिनिष्पत्तिके विषयमें अधिकारियों पर विचार करते हुए लिखा है कि दो प्रकारके व्यक्ति होते हैं—गरिष्ठ या कर्कश चित्तवाले और लघिष्ठ या कोमल चित्तवाले। कर्कश चित्त तीन प्रकारका होता है, वज्र, स्वर्ण और जतु की उपमा

वाला भावरूप अग्निसे वज्रचित्त कभी द्रवित ही नहीं होता [illegible] है स्वर्णचित्त अधिक तापसे द्रवित होता है और जतु चित्त [illegible] एक दूसरे स्थान पर इसी प्रकरणमें भावको रंगकी उपमा दी गई है [illegible] है—स्वाभाविक रंग जैसे मंजिष्ठा इत्यादिमें और आगन्तुक रंग जैसे [illegible] लाख और रंगके दृष्टान्तको प्रकारान्तरसे मधुसूदन सरस्वतीने [illegible] जो प्रस्तुत प्रकरणमें दी हुई अनेक उपमाओंके विरुद्ध नहीं जाती। उनके अनुसार स्थायी भाव की प्रक्लृप्तिकी प्रक्रिया यह होगी—चित्त एक स्वाभाविक ठोस पदार्थ-जैसा है, जिस प्रकार लाख एक ठोस पदार्थ हुआ करता है। लाखको आगमें तपाकर द्रवित कर दिया जाता है जिससे उसमें प्रवहणशीलता आ जाती है। फिर उस प्रवहमान लाखको किसी मूर्ति इत्यादि के साँचेमें ढालकर एक विशिष्ट आकृतिकी परिकल्पना कर ली जाती है। इसी प्रकार काम, क्रोध, भय, उद्वेग, हर्ष, शोक, दया इत्यादि अनेक भाव चित्तको [illegible] वाले होते हैं। इनसे पिघलकर चित्त जब भगवदाकारतामें परिणत हो जाता है उसे ही भक्ति कहते हैं। इसीलिए भक्तिकी परिभाषा यह दी हुई है—[illegible] द्रुत होकर चित्त धारावाहिकताको प्राप्त हो जाता है और भगवदाकारतामें परिणत हो जाता है तब उसे भक्ति कहते हैं। मधुसूदन सरस्वतीका कहना है कि [illegible] मनोवृत्तिका अर्थ भगवदाकारतामें मनकी परिणति है

'तदाकारतैव हि सर्वत्र वृत्तिशब्दार्थोऽस्माकं दर्शने।'

मनोवृत्तिके भगवदाकारतामें परिणत होनेका एक बहुत बड़ा परिणाम यह होता है कि संसारकी सभी वस्तुएँ भगवान्के रूपमें ही दिखलाई पड़ने लगती हैं। भगवान्का ही प्रतिबिम्ब सारे विश्वमें दिखलाई पड़ता है। क्योंकि जब [illegible] प्रतीति होती है तभी वह प्रतिबिम्ब कहा जाता है। यह भक्तिकी पराकाष्ठा है और भगवन्मय विश्वको देखनेवाला उत्तम भागवत कहा जाता है। इस प्रकारका संस्कार अविनाशी होता है। इसीलिए भगवदाकारता परिणति रूप भक्तिको स्थायी भावकी संज्ञा प्रदान की जाती है। ये भगवान् परमानन्दस्वरूप है। अत. जब मनोनिविष्ट भगवत्स्वरूप विभावादिकोंके संयोगसे अभिव्यक्त हो जाता है तब परमानन्द रूप रसकी अनुभूति होने लगती है।

भगवदाकारता परिणतिके अतिरिक्त हम इसे दूसरे रूपमें भी समझ सकते हैं—जब अग्निका संयोग होने पर लाख पिघल जाता है उस समय उसमें कोई रंग मिला दिया जाय और तापकका प्रभाव शान्त हो जाने पर वह लाख पुनः ठोस हो जाय तो द्रवावस्थामें मिलाया हुआ रंग स्थायी हो जाता है। उसी प्रकार जब कामादिसे चित्त द्रवित हो गया हो उस समय यदि उसमें भगवत्प्रेम रूपी रंग मिला दिया जाता है तो वह रंग (प्रेम) चिरस्थायी हो जाता है। इसीलिए भगवत्प्रेमको स्थायी भाव कहते हैं। फिर जब कभी उसी प्रकारकी परिस्थितिको पाकर चित्त पुनः द्रवित होता है तब भगवत्प्रेम उसी रूपमें प्रतिभासित होता रहता है। यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि भक्तिके इस प्रकार दो स्वरूप हो जाते हैं—भगवदाकारता और भगवत्प्रेम। इस प्रकार आलम्बन विभाव और स्थायी भाव दोनों एक हो जाते हैं। किन्तु यह विरोध नहीं है, क्योंकि बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावसे इनका भेद व्यवहारसिद्ध है रतिके विषयमें कहा है

आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती   म् ।
स्वयप्रकाश   प्रकाश्यवत्

अर्थात् - भगवद्रति मनोवृत्तिमें आविर्भूत होकर भगवत्स्वरूपताको धारण कर लेती है। भक्ति प्रकाशरूप होती है किन्तु उसकी प्रतीति प्रकाश्यके समान ही होती है। प्रकाश्य भगवान् है। जिस प्रकार दीपकका प्रकाश जिस प्रकोष्ठमें पड़ता है उसी रूपमें प्रतीत होता है उसी प्रकार रति जब भगवानको प्रकाशित करती है तब भगवानके स्वरूपमें ही उसकी प्रतीति होने लगती है। इस प्रकार आलम्बन और स्थायी भावकी ऐक्यापत्तिका समाधान हो जाता है। यही भक्ति इन आचार्योंका अभिमत स्थायी भाव है। इसमें तापकोंका भी योग रहता है। इस प्रकार मिश्रित भाव ही आस्वादगोचर हुआ करता है। इसीलिए इन भक्त आचार्योंने सभी रसोंके मूलमें रति मानी है। इसी आधार पर मुख्य और गौण रसोंकी परिकल्पना की गई है। इस प्रकार मिश्रित भावके आस्वादनका भी समाधान हो जाता है।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि फिर लौकिक रसके विषयमें क्या व्यवस्था होगी? उसमें भगवदाकारताका निर्वाह किस प्रकार हो सकता है? भक्तिरसके आचार्य इस विषयमें भी निर्भ्रान्त हैं। सभी व्यक्तियोंकी उत्पत्ति तो आनन्दसे ही होती है, वे आनन्दसे ही जीवित रहते हैं और अन्तमें उनका लय भी आनन्दमें ही हो जाता है। ब्रह्म ही एक सत्य तत्त्व है। कान्ता इत्यादिमें भी आनन्दांश ब्रह्मका ही है। मायाके प्रभावसे उसकी प्रतीति ब्रह्ममय न होती हो यह दूसरी बात है। मायाकी दो शक्तियाँ होती हैं—आवरण और विक्षेप। विश्वके समस्त पदार्थ ब्रह्म ही हैं और इसीलिए सब आनन्दरूप हैं। आवरण शक्तिका कार्य है वास्तविकताका तिरोधान कर देना और विक्षेप शक्तिका कार्य है उसमें नवीन तत्त्वकी प्रतीति करा देना। उदाहरणके लिए रज्जुमें सर्पका जो भान होता है उसमें आवरण शक्तिसे रज्जुका तिरोधान हो जाता है और विक्षेप शक्तिसे सर्पकी प्रतीति होने लगती है। इसी प्रकार कान्तादिके विषयमें मायाकी आवरण शक्तिसे ब्रह्मके आनन्दांशका तिरोधान हो जाता है और कान्तादि असत्की प्रतीति विक्षेप शक्तिसे हो जाती है। कान्ता इत्यादिके विषयमें भी आनन्दका कारण सुखस्वरूप चैतन्यघन ही है। अत: मनोवृत्तिके तदाकार होने पर भी मायाके आवरणके कारण उसकी प्रतीति नहीं होती। कान्तादिमें ब्रह्म सत् है, किन्तु ब्रह्मरूपमें ज्ञात नहीं होता; उसकी प्रतीति कान्तारूपमें ही होती है। जब विभावादिके संयोगसे सत्वका उद्रेक हो जाता है तब मायाकी आवरणशक्ति भंग हो जाती है। उस समय क्षणभरकेलिए ब्रह्मानन्दका प्रतिभास होने लगता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि मायाकी आवरण शक्तिका ही भंग होता है, विक्षेप शक्तिका सर्वथा अभाव नहीं होता। अत: आनन्दांशका प्रतिभास होते हुए भी कान्तादिकी प्रतीति होती ही रहती है। अन्तर यह हो जाता है कि लोक-वाक्य तो प्रवर्तक होते हैं; किन्तु काव्य-वाक्य प्रवर्तक नहीं अपितु आस्वाद्य होते हैं। इस प्रकार आनन्दांशपूर्ण कान्तादि प्रतिभास मनमें भावरूपताको धारण कर लेता है; किन्तु उसमें जड़ताका भी मिश्रण रहता है। अतः वह भाव पूर्णरस-रूपताको नहीं धारण कर सकता अपितु न्यून ही रहता है। इसके प्रतिकूल जाड्यका मिश्रण न होनेके कारण भगवद्विषयकभाव पूर्ण आनन्दरूपताको प्राप्त कर लेता है।

उक्त विवेचनसे इस प्रश्नका भी उत्तर मिल जाता है कि रस केवल   ही

होते है या सुख-दुःखात्मक ? यदि वे केवल आनन्दमय होते है तो भयानक, रौद्र इत्यादि
रसोंमें सुखानुभूति किस प्रकार सिद्ध होती है ? बात यह है कि भयादिमें चित्त [illegible] होकर [illegible]
ब्रह्मानन्दमय हो जाता है। जिस प्रकार लाखको पिघलाकर उसमें जो रंग मिला दिया जाता
जाता है वह स्थायी हो जाता है, जब रंगके सहित लाख पुनः ठोस हो जाता है और [illegible]
बाद पुनः पिघलाई जाती है तब भी उसमें पुराने रंगका प्रतिभास होता ही रहता है। इसी
प्रकार मनके द्रवित हो जानेके बाद जो रतिजन्य आनन्दांश उसमें सम्मिलित हो जाता है,
रौद्रादि द्वारा पुनः द्रवित करने पर भी उस आनन्दांशका सर्वथा अपनयन नहीं हो पाता।
किन्तु सत्वके उद्रेकसे ही मनोवृत्ति रसरूपता धारण करती है। सत्व रजोगुण और तमोगुण
से संवलित रहता है। अतः रजोगुण और तमोगुणके तारतम्यसे रसास्वादनमें भी तारतम्य
बना रह सकता है।

ऊपर तापकके संयोगसे द्रुतिकी बात कही गई है। कभी-कभी इसमें अन्तर भी
स्थिति होती है। सूर्यतापके संयोगसे जतुमें पूर्ण द्रवता नहीं आती, अपितु थोड़ी सी शिथिलता
आ जाती है। उस दशामें कोई भी रंग पूर्णरूपमें जतुमें प्रविष्ट नहीं होगा, अपितु कुछ अंश
में ही उसमें मिल पाता है तथा उसका अपनयन भी सुविधापूर्वक किया जा सकता है।
इसी प्रकार तीव्र भावोंसे द्रवित होकर चित्त पूर्ण विषयाकारताको धारण कर लेता है। इस
दशामें उसे संस्कार, वासना, भावना, भाव इत्यादि अनेक शब्दोंसे अभिहित किया जाने
लगता है। किन्तु इसके प्रतिकूल जहाँ भाव तीव्र नहीं होते वहाँ चित्त कुछ शिथिल हो जाता
है। अतः उसमें भगवदाकारता पूर्ण रूपसे सन्निविष्ट नहीं हो पाती। इस दशामें उसे
संस्काराभास या भावाभास इत्यादि नामोंसे ही पुकारा जाता है। इस संस्काराभास या
भावाभासके रूपगोस्वामीने दो भेद किये है—प्रतिबिम्ब और छाया।

मायाकी आवरण और विक्षेप शक्तियाँ वेदान्त पर आधारित हैं। इसी प्रकार सांख्य
मे प्रकृतिके तीन तत्त्व माने जाते है—सत्व, रज और तम। ये क्रमशः सुखात्मक, दुःखात्मक
और मोहात्मक होते है। इनसे युक्त प्रकृति ही सब कार्योंका कारण और सबका उपादान
रूप है। सुख-दुःखादि तत्त्व आन्तरिक होते है और प्रकृतिजन्य वस्तु-कलाप बाह्य। बाह्य
वस्तुका आन्तर प्रतिबिम्ब वासना-मिश्रित होनेसे सुखादि रूप हो जाता है। इस प्रकार एक
ही वस्तु अनेक व्यक्तियोंमें अनेकविध भावनाओंको जागृत करती है। [illegible]
हुई। काव्यमें वस्तुके अन्तःप्रतिबिम्बके साथ जब सुखकी भावना सम्मिलित हो जाती है
क्योंकि काव्यमें जिन वस्तुओंका प्रतिबिम्ब अन्तःपटल पर पड़ता है वे स्वभावतः किसी भी
प्रकार नहीं होतीं—तब वह सुखमय भावना स्थायी भाव बन जाती है और वही रसरूपमें
परिणत होती है। किसी भी कामिनीके दो रूप हो सकते है अन्तः और बाह्य। बाह्य
कामिनी माँसमयी होनेसे नश्वर है, किन्तु उसकी अन्तःप्रतिकृति छाया रूप है जिससे वह
नश्वर नहीं हो सकती। इस प्रकार वेदान्तके समान सांख्यके अनुसार भी भावना तथा
प्रकाश्य वस्तु दोनोंको स्थायी भावकी संज्ञा प्राप्त होती है।

स्थायी भावसे रसनिष्पत्ति

स्थायी भावकी रस [illegible] के विषयमें समस्त आचार्योंका सामान्य अभिप्राय है। [illegible]

मतमें नहीं है। इस प्रसंगमें भक्त आचार्योंने अनेकशः भरतका अतिदेश किया है। रूप गोस्वामीने तो परिभाषा भी 'साहित्य दर्पण'की परिभाषासे मिलती-जुलती दी है। मधु-सूदन सरस्वतीने निम्नलिखित शब्दोंमें रसनिष्पत्तिका विश्लेषण किया है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगेनाभिव्यक्तः स्थायिभाव एव सभ्याभिनेययोर्भेदतिरोधानेन सभ्यगत एवसन् परमानन्दसाक्षात्काररूपेण रसतामाप्नोतीति रसविदां मर्यादा।"

इसका आशय यह है कि स्थायी भाव सामाजिकमें ही रहता है। जब उसका संयोग विभाव, अनुभाव और संचारी भावसे होता है तब सामाजिक तथा अभिनेय (अनुकार्य कृष्ण इत्यादि) से उसके भेदका तिरोधान हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अभेद प्रतीतिके साथ भगवद्गत परमानन्दरूपता सामाजिकमें आ जाती है और सामाजिक रस-विभोर हो उठता है। यही रस कहलाता है; यह रसज्ञोंकी मर्यादा है। इस परिभाषासे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१. स्थायी भाव सामाजिकगत ही होता है और सामाजिककी चित्तवृत्ति ही रसरूपताको धारण करती है। 'भक्तिरसायन' के तृतीय उल्लासमें लेखकने लिखा है कि सुख या आनन्द तो आत्माका स्वरूप है, क्योंकि शास्त्रकार 'रसो वै सः' कहकर रसकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मका आदि अन्त है ही नहीं। अतः आनन्दका आधार कुछ नही हो सकता। किन्तु उस आनन्दको अभिव्यक्त करनेवाली सात्विक वृत्तियाँ तो सामाजिकके मनमें ही रहती है। इसीलिए सामाजिकका मन रसका आधार माना जाता है।

२. रस सर्वदा सुखात्मक ही होता है। करुणादि रसोंमें भी सुखरूपता ही विद्यमान रहती है। श्री मधुसूदन सरस्वती ने रसकी परिभाषामें भी सुखका समावेश कर दिया है—

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्थायिभावः सुखत्वेन व्यज्यमानोरसोभवेत्॥

इस सुखत्वकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि रति इत्यादि लौकिक भावोंका ही काव्यमें उपादान होता है और काव्यार्थगत होने पर वे भाव लौकिक ही रहते है, किन्तु परिशीलककी चित्तवृत्तिमें आकर अलौकिक हो जाते है। इस प्रकार रति इत्यादि बोध्य (अनुकार्य) निष्ठ होकर सुख-दुःखादिमे हेतु होते है, किन्तु बोद्धा (सहृदय) गत होकर केवल सुखमें ही हेतु होते हैं। बोद्धृनिष्ठभाव दुःखमें हेतु होते ही नहीं, इसीलिए करुणादि रसोंकी सुखात्मकता भी प्रतिहत नहीं होती।

३. स्थायी भाव ही रसरूपता धारण करता है। इस विषयमें मतभेद भी है। स्वयं अभिनवगुप्तने लिखा है—'स्थायिविलक्षण एव रसः।' मतभेदका उल्लेख मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार किया है—'कुछ लोगोंके अनुसार ज्ञातस्वपर सम्बन्धसे भिन्न साधारणीकरण की प्रक्रियासे विभाव, अनुभाव और संचारी भाव अलौकिकभावका बोध कराते हैं। तीनों भावोंसे संसृष्ट स्थायी भावमें अवगाहन करनेवाली एक समूहावलम्बनात्मिका बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। वह शीघ्र ही उत्तम सुखको अभिव्यक्त करती है। यही रस है। उनमें प्रत्येक विज्ञान कारणके रूपमें स्वीकृत किया जाता है। उन लोगोंके मतमें स्थायी भावको रस कहना एक औपचारिक प्रयोग है। किन्तु भक्त आचार्योंके मतमें स्थायी भाव ही रसरूपता धारण करता है क्योंकि स्थायी भाव स्वयं सुखमय भाव ही है।

४. रसकी अभिव्यक्ति ही होती है। इस दिशामें व्यंजनावादके सभी सिद्धान्त इन आचार्योंको मान्य है। शब्द व्यंजक होता है। रीति और गुणका स्थान वही [illegible] है जो अभिव्यंजनावादवालोंने माना है। उसी प्रकार अलंकार परिपोषक माने गए हैं। [illegible] असंलक्ष्यक्रमता, कार्यज्ञाप्यादिभिन्नता तथा निर्विकल्पक आस्वादरूपता [illegible] भी मानी जाती है जिसका निरूपण 'भक्तिरसायन'के तृतीय उल्लास में किया गया है।

५. इस मतमें सभ्य और अभिनेयके भेद [illegible] स्वीकार किया जाता है। यह सिद्धान्त रसकी दिशामें तो ठीक है ही [illegible] भी भक्ति सम्प्रदायमें कोई दोष नहीं आता।—क्योंकि भक्तिमें [illegible] भाव भगवान्‌के ही पोषक होते है। इसमें भगवान् आलम्बन भी है और स्थायी भावके [illegible] प्रत्यायन होता है। अतः उनसे तादात्म्य स्थापित करना स्वाभाविक ही है। [illegible] सभी भावोंको रतिमूलक ही मानते हैं। इसी आधार पर इन आचार्योंने मुख्य तथा गौण रसोंकी व्यवस्था की है। भक्त आचार्योंकी रस प्रक्रियाका यही संक्षिप्त परिचय है।

भक्तिरस-सिद्धान्तका मूल्यांकन

भक्तिरसकी यह परिकल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं। [illegible] प्राचीन दिशाके प्रति समुचित आस्थाका निर्वाह करते हुए भी इन आचार्योंने मौलिकता भी पर्याप्त मात्रामें दिखलाई है जिससे प्राचीन और नवीनका समन्वय [illegible]। दोनों बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त हो गया है। प्राचीन शास्त्रकी दृष्टि से यह नवीन है, किन्तु प्राचीनताका समुचित संश्रय इसे सर्वथा नवीन कहनेमें संकोच उत्पन्न करता है। इन आचार्योंने भक्तिको ही एकमात्र रस मानकर तथा अन्य समस्त रसोंका [illegible] ही समेटकर भक्ति काव्यकी तो यथेष्ट व्याख्या कर ही दी है, सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण पद-प्रक्षेप किया है, जिसके लिए ये आचार्य प्रशंसाके पात्र हैं। [illegible] सूझ-बूझ और गवेषणा-शक्तिका परिचय प्राप्त होता है। रसके मूल उपकरण वे ही हैं, किन्तु उनका वर्गीकरण सर्वथा नया है। आलम्बन, नायक-नायिका भेद, उद्दीपन, अनुभाव, नायक-नायिकागत अलंकार इत्यादि समस्त रसोपकरणों पर स्वतन्त्र दृष्टिसे विचार किया गया है। इन सब विवेचनोंमें काव्य-वर्णनाओं तथा लक्ष्यग्रन्थों पर पूरा ध्यान रखा गया है। ये आचार्य कहाँ तक प्राक्तन साहित्यके उपजीवी हैं और कहाँ तक इनमें नवीन उद्भावनाएँ हैं इन सबका निरूपण इस छोटे-से लेखमें सम्भव नहीं है। यह एक स्वतन्त्र अनुसन्धानका विषय है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—सात्त्विक भावोंकी द्विधा स्थितिके कारण उनको अनुभावों में सम्मिलित किया जाय या सचारियोंमें यह साहित्यशास्त्रमें विवादका विषय रहा है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में इनकी पृथक् स्थिति स्वीकार कर और संचारी तथा अनुभाव दोनोंसे इन्हें पृथक् कर एक नवीन दिशाका उन्मीलन किया गया है। सात्त्विकोंकी संख्या तो आठ ही रखी गई है, किन्तु उनका वर्गीकरण नये ढंगसे कर दिया गया है। पहले स्निग्ध, दिग्धादि भेदोपभेद किये गए, फिर उनके भूमि आदि आधारोंका निरूपण किया गया, फिर उनके धूमायित इत्यादि भेद किये गए। बादमें सात्त्विकाभासके भेदोपभेदोंका वर्णन किया गया। इस प्राक्तन आधार और नवीन उद्भावना इनके प्रत्येक निरूपणमें विद्यमान है

[illegible] कल्पनाका व्यसनितामात्र नहीं अपितु वस्तुकी अन्तर्दृष्टि सर्वत्र [illegible] सर्वत्र [illegible] अपवाद भी है किन्तु आचार्यकी विवेचन शैली और [illegible] प्रवृत्ति [illegible] लक्षित होती है, इसमें सन्देहका कोई अवसर नहीं रह जाता।

केवल उपकरणोंकी विवेचना ही नहीं, रसनिष्पत्तिकी दिशामें भी प्राचीन मान्यताके प्रति [illegible] नवीन उद्भावना इस सिद्धान्तकी विशेषता है। स्थायी भावका स्वरूप-निरूपण तो सर्वथा मौलिक है ही, संचारी भावोंके स्वरूपाधिगमका भी विश्लेषण नवीनता लिये हुए है। स्थायी भावकी भेदोपभेद कल्पना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कहना ही होगा कि इन आचार्योंने रस और भक्तिशास्त्रोंका सफल समन्वय प्रस्तुत किया है और भक्तिके परिप्रेक्ष्यमें समस्त रसोंको घटित कर देनेमें इन आचार्योंको पर्याप्त सफलता मिली है।

रस निष्पत्ति पर विचार दो दृष्टियोंसे होना चाहिए—एक तो विस्तारकी दृष्टिसे और दूसरे गहराईकी दृष्टिसे। इस दृष्टिसे कहना ही होगा कि भक्ति न तो सर्वजनीन भाव है न सर्वजन-संवेद्य ही और न मूलप्रवृत्ति ही। प्राक्तन आचार्यों द्वारा विवेचित स्थायी भाव मानव तथा पशु-जगत्में एक से पाये जाते हैं— अभिनवगुप्तके अनुसार सभी रिरंसासे व्याप्त होते हैं; सभी अभीष्टके वियोगसे सन्तप्त होते है, अभीष्ट वियोजक हेतुओंके प्रति सभीको क्रोध आता है; असमर्थ होने पर सभीको भयकी प्रतीति होती है; अनभीष्ट वस्तुसे सभीको वैमुख्य होता है; सभी किसीका परित्याग करना चाहते है और लोकोत्तर वस्तुको देखकर सभीको विस्मयकी अनुभूति होती है। इस प्रकारकी सर्वजन संवेद्यता भक्तिमें नहीं है। इसीलिए पुराने आचार्योंने भक्तिको पृथक् रूपसे रस नहीं माना है। भक्ति आनन्द देती है, इसीलिए इसको पुराने आचार्योंने भावकी कोटिमें रखा है, रस कोटिमें नहीं। इस दृष्टिसे विचार करने पर ये आचार्य दर्शनके साथ साम्प्रदायिक भावनासे विशेष आक्रान्त प्रतीत होते हैं; मनोभावकी सामान्य भूमिका पर इनका कम ध्यान है।

प्राचीन आचार्योंने शान्तरसका प्रतिपादन किया था। यह एक प्रकारकी मूलवृत्ति अवश्य होती है। मनुष्य अभीष्ट-लाभमें आनन्दको प्राप्त करता ही है—उसे उच्चकोटिके सुस्वादु भोजनोंमें आनन्दानुभूति होती ही है—उस समय भी उसे तृप्तिजन्य आनन्दका अनुभव होता है जब उसे किसी बातकी आकांक्षा नहीं होती। इसी भाँति जब किसी प्रकारकी भावना मनको आन्दोलित नहीं कर रही होती है तब भी एक प्रकारका सुख अनुभव-गोचर होता है। इसे हम तृष्णाक्षय सुख कह सकते हैं। तृष्णाक्षय सुखका अर्थ है विषयाभिलाषाकी चारों ओरसे निवृत्ति तथा उससे उत्पन्न होनेवाला निर्वेद। वह निर्वेद ही शान्तरसका स्थायी भाव है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि चेष्टा तथा भावनाका आत्यन्तिक उपरमही निर्वेद नहीं है। अभिनवगुप्तने लिखा है कि सब प्रकारकी चित्तवृत्तियोंका प्रशमही शान्तरसका स्थायी भाव माना जाता है। यह वृत्तियोंका प्रतिषेध है जो दो प्रकारका हुआ करता है—प्रसज्य तथा पर्युदास। प्रसज्यमें किसी वस्तुका सर्वथा अभाव व्यक्त होता है और पर्युदासमें तत्समकक्ष दूसरी वस्तुका उपादान हुआ करता है। सामान्यत. प्रसज्य प्रतिषेधमें 'न' का प्रयोग पृथक होता है और पर्युदासमें समास हो जाता है। जैसे ब्राह्मण न आनय का अर्थ होगा कि ब्राह्मणको न लाया जाए न और ही किसीको लाया जाए

इसके प्रतिकूल पर्युदास इस प्रकार होगा-- अब्राह्मण मानय अर्थात् ब्राह्मण-भिन्न ब्राह्मण-सदृश किसी व्यक्तिको ले आओ। चित्तवृत्तिके प्रशमको यदि प्रसज्य प्रतिषेध माना जायगा तो जब कोई मनोविकार या मनोवृत्ति होगी ही नहीं तो आस्वादन किसका होगा? अतएव पर्युदास ही मानना चाहिए जिसका आशय होगा— चित्तवृत्तियाँ लौकिकतासे हटकर परम-सत्ताकी ओर उन्मुख हों। यही निर्वेद है। इसमें भी अद्वितीय आनन्दकी [illegible] है। चित्तवृत्तियोंकी भगवदुन्मुखता ही भक्ति है। इस प्रकार प्राचीन [illegible] भक्ति शान्तका ही एक व्याप्य भाव है। निर्वेद व्यापक होता है। यह दृष्टिकोण समीचीन भी है और रसकी सामान्य भूमिकाकी इसमें उपेक्षा नहीं की गई है। व्यापक भावको ही [illegible] में स्थान मिलना चाहिए। इस दृष्टिसे शान्तको रस रूपमें स्वीकार करना उचित है। फिर भी, भक्तिकाव्यकी ठीक व्याख्या करनेके लिए तथा भक्त आचार्योंकी भावात्मक मनोवृत्तिको समझानेकी दिशामें इन आचार्योंका महत्त्व अक्षुण्ण है और [illegible] धारामें यह एक महत्त्वपूर्ण पदन्यास है जिसकी उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती।

रामसागर त्रिपाठी

भक्तिरसामृतसिन्धुः

प्रथमे पूर्वविभागे
प्रथमा सामान्यभक्तिलहरी

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः ।
कलितश्यामाललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥

अथ भक्तिरसामृतसिन्धु-दीपिका हिन्दी-व्याख्या

श्रद्धया सत्यमाप्यते

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां माध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥
शुद्धाऽऽलोकमयी नित्यमज्ञानान्धतमोपहा ।
सदा स्वान्तेऽस्मदीये सा, प्रभोर्भक्तिः प्रकाशताम् ॥
साहित्य-दर्शनपरान् प्रथितान् प्रबन्धान्,
व्याख्याय लब्ध-निजबुद्धिगुण-प्रसादः ।
श्रद्धारसेन परिपूतमना हि वृत्तिं,
सिन्धौ तनोमि हरिभक्तिरसामृतस्य ॥

रण—

इस ग्रन्थके निर्माता श्री रूपगोस्वामि-महोदय, भक्ति-सम्प्रदाय के
भु चैतन्यदेव (१४८५-१५३३ ई०) के प्रमुख शिष्य थे। अपने गुरुदेव
क्ति-सिद्धान्तको सुव्यवस्थित शास्त्रीय रूप प्रदान करनेके लिए उन्होंने
है। भारतीय परम्पराके अनुसार ग्रन्थके आरम्भमें श्लिष्ट विशेषणोंके
सादृश्य दिखलाकर वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्णचन्द्रकी वन्दना करते हुए कि
[चन्द्र-पक्षमें अखिल रसामृतमूर्तिः अर्थात्] अखण्डित, रसामृतसे परिपूर्ण
ले [अपनी 'प्रसृमररुचि' अर्थात् चारों ओर] फैली हुई कान्तिसे ['रुद्ध
तारक-पंक्तिको अभिभूत कर देने वाले एवं [कलित श्यामा ललितः अथ
यक [राधाप्रेयान्] वैशाखी पूर्णिमाके [विधुः] चन्द्रमाके समान सम
न्द्रके पक्षमें 'अखिल रसामृतमूर्तिः' अर्थात् आगे कहे जाने वाले शान्त
समस्त रसोंसे युक्त अमृत [अर्थात्] ही जिनका स्वरूप है

और ['प्रसृमर रुचि' अर्थात् अपने] सौन्दर्यसे [रुद्धतारकापालिः] जिन्होंने तारिका और पाली [नामिका गोपियों] को वशमें कर लिया है [इसी प्रकार 'कलित श्यामा ललितः' अर्थात् अपने सौन्दर्यसे] श्यामा और ललिता [सखी नामक गोपियों] को अपने वशमें कर लेने वाले, एवं [राधाप्रेयान् अर्थात्] राधाको अत्यन्त प्रेम करने वाले [अथवा राधाके अत्यन्त प्रीति-भाजन 'विधु' अर्थात्] श्रीकृष्णचन्द्र [जयति] सर्वोत्कर्षशाली हैं। ['जयति' पदसे उन श्री कृष्णचन्द्रके प्रति नमस्कारका आक्षेप होता है। अर्थात् मैं उनको नमस्कार करता हूँ यह अर्थ सूचित होता है] ॥ १ ॥

यह ग्रन्थका मङ्गलाचरण-श्लोक है। इसमें 'राधाप्रेयान्' पद मुख्य वाक्य है। शेष तीनों चरण विशेषण रूप हैं। इसमें ग्रन्थकारने 'राधाप्रेयान् हरिर्जयति' न लिखकर 'राधा-प्रेयान् विधुर्जयति' लिखा है। 'विधु' शब्द सामान्यतः चन्द्रमाका वाचक है किन्तु 'अमरकोष' आदिमें विष्णुके नामोंमें भी 'विधु' नाम दिया गया है। यहाँ 'विधुर्जयति' इन शब्दोंके द्वारा ग्रन्थकारने चन्द्रमाके साथ श्रीकृष्णचन्द्रके सादृश्यको अभिव्यक्त किया है। और उस सादृश्यका निर्वाह करनेके लिए श्लोकके शेष तीन चरणोंमें उन्होंने इस प्रकारके विशेषण प्रस्तुत किये है जो चन्द्रमा और श्रीकृष्णचन्द्र दोनोंके पक्षमें समन्वित होते हैं। इसमें 'प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः' यह द्वितीय विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य है। चन्द्रमा के पक्षमें उसका 'अपनी फैली हुई कान्तिसे जिसने तारकोंकी पालि अर्थात् पंक्तिको अभिभूत कर दिया है' यह अर्थ सीधा लग जाता है। श्रीकृष्ण-पक्ष मे 'तारकापालिः' पदसे तारका और पाली नामकी दो गोपियोंका ग्रहण होता है। वैसे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रिय गोपियों में प्रायः श्यामा, ललिता आदि गोपियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। उनके नामोंका उल्लेख ग्रन्थकारने तीसरे चरणमें किया है। यहाँ जिन तारका और पाली आदि गोपियोंका उल्लेख किया है वे उतनी प्रसिद्ध गोपियाँ नहीं हैं। फिर भी उनका नाम श्रीकृष्णकी प्रिय गोपियोंके रूपमें भविष्योत्तर-पुराणमें निम्न प्रकार उल्लिखित हुआ है—

गोपाली पालिका धन्या विशाखान्या धनिष्ठिका।
राधानुराधा सोमाभा तारका दशमी तथा ॥

इस श्लोकमें 'तारका' नाम तो स्पष्ट रूपसे आया है, 'पाली' नाम नहीं आया है, उसके स्थान पर 'पालिका' नाम आया है। ग्रन्थकार रूपगोस्वामि-महोदयने उसी 'पालिका' को अपने श्लोकमें 'पालि' नामसे कहा है। इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रके पक्षमें द्वितीय चरणकी सङ्गति ठीक बन जाती है।

श्रीकृष्णचन्द्रके पक्षमें द्वितीय चरणकी सङ्गति लगानेमें जिस प्रकार थोड़ासा प्रयत्न करना होता है उसी प्रकार चन्द्रमा-पक्षमें चतुर्थ चरणकी सङ्गति लगानेके लिए थोड़ेसे प्रयत्नकी आवश्यकता होती है। 'राधाप्रेयान् विधुर्जयति' इस चरणमें 'राधाप्रेयान्' पदकी सङ्गति श्रीकृष्णके पक्षमें तो अनायास ही लग जाती है। किन्तु चन्द्रमा-पक्षमें उसकी सङ्गति लगानेके लिए राधा पदका अर्थ 'दुर्गमसङ्गमनी'-टीकाकार 'जीवगोस्वामी'ने 'विशाखा नाम्न्या तारायां' किया है। विशाखा-नक्षत्रसे युक्त होनेसे विशाखा नक्षत्र वाली पूर्णिमासे युक्त मास का नाम वैशाख होता है। वैशाखकी पूर्णिमाका चन्द्रमा 'विशाखा प्रेयान्' हो सकता है। उसीका ग्रहण यहाँ 'राधा प्रेयान्' इस पदसे किया गया है यह दुर्गमसङ्गमनीकार श्रीजीव

हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽहं वराकरूपोऽपि ।
तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य ॥ २ ॥
विश्राममन्दिरतया तस्य सनातनतनोर्मदीशस्य ।
भक्तिरसामृतसिन्धुर्भवतु सदाऽयं प्रमोदाय ॥ ३ ॥

गोस्वामीका अभिप्राय है। यों तो 'राधाप्रेयान्' इस श्लेषके निर्वाहके लिए ही यहाँ वैशाखी पूर्णिमाके चन्द्रमासे कृष्णका साम्य दिखलाया है। परन्तु वैशाख मास वसन्त ऋतुमें आ जाता है इसलिए उसका विशेष महत्त्व है। इसलिए वैशाखी पूर्णिमा अर्थात् ऋतुराज वसन्तके पूर्णिमाके चन्द्रके साथ श्रीकृष्णचन्द्रका साम्य दिखलाते हुए ग्रन्थकारने ग्रन्थके इस प्रारम्भिक श्लोकमें अपने इष्टदेवको नमस्कार किया है ॥ १ ॥

गुरु-वन्दना—

इस प्रकार प्रथम श्लोक में अपने इष्टदेवको नमस्कार करनेके बाद द्वितीय श्लोकमें ग्रन्थकार अपने गुरुदेव श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु की वन्दना करते हुए लिखते हैं—

अब [अपने] हृदयमें जिनकी [ओरसे] प्रेरणा पाकर [वराकरूपोऽपि] क्षुद्र रूप [अल्प सामर्थ्य वाला] भी मैं [इस ग्रन्थके निर्माणमें] प्रवृत्त हो रहा हूँ उन [विष्णु-स्वरूप] श्रीकृष्ण चैतन्यदेवके चरण कमलों की वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

उन नित्य [कूटस्थ] रूप [सनातनतनोः] मेरे प्रभु [विष्णु अथवा महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य] का विश्राम-धाम होनेसे यह 'भक्तिरसामृतसिन्धु' [नामक ग्रन्थ] उनको सदा आनन्द प्रदान करने वाला हो ॥ ३ ॥

यह श्लोक यों तो बडा सीधा-सादा है किन्तु है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण। इसमें कई विशेष बातें ध्वनित होती हैं। यह श्लोक गुरु-वन्दनाके प्रसंगमें लिखा गया है। पर उसमें गुरु शब्द या उनके नामका उल्लेख नहीं है। श्लोकका सीधा अर्थ 'मदीशस्य' मेरे प्रभु श्रीकृष्ण-परक प्रतीत होता है। विष्णु-भगवान् क्षीरसागरमें शयन करने वाले हैं। क्षीर-सागर उनका विश्राम-धाम, विश्राम-मन्दिर है। यह 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ भी 'अमृतसिन्धु' है। क्षीर-सागरके समान यह भी उनका विश्राम-मन्दिर है। इसलिए यह उनके लिए क्षीर-सागरके समान ही सदा आनन्ददायक हो, यह श्लोकका सीधा-सादा वाच्यार्थ है। पर इसमें 'मदीशस्य' पद अपने वाच्यार्थसे अधिक कुछ गहरा जा रहा है। वह 'मेरे प्रभु' 'महाप्रभु' का स्पर्श-सा करता हुआ प्रतीत होता है। ग्रन्थकार अपने गुरुदेव 'महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य देव' को अपने इष्टदेवसे अभिन्न बनाकर यहाँ 'मदीशस्य' पदसे कदाचित् उनकी ओर ही संकेत कर रहे हैं। यह श्लोकका वाच्यार्थ नहीं है। व्यंगार्थ ही हो सकता है।

इसी प्रकार 'सनातनतनोः' में आया हुआ 'सनातन' पद भी यहाँ विशेष महत्त्वपूर्ण है। वैसे 'सनातनतनोः' पदका सीधा अर्थ नित्य-स्वरूप है और वह 'मदीशस्य' का विशेषण है। पर जैसे 'मदीशस्य' पदके ऊपर अव्यक्त रूपसे ग्रन्थकारके गुरुदेव 'महाप्रभु चैतन्यदेव' के नामकी छाया प्रतिबिम्बित हो रही है, उसी प्रकार इस 'सनातन' पदके ऊपर ग्रन्थकार के ज्येष्ठ भ्राता नाम की छाया प्रतिबिम्बित हो रही है महाप्रभु

भक्तिरसामृतसिन्धौ चरतः परिभूतकालजालभियः ।
भक्तमकरानशीलितमुक्तिनदीकान्नमस्यामि ॥ ४ ॥

भक्तिरस-रूप अमृतके सागरमें विहरण करनेवाले, मृत्युपाशके भयको परे पहुँचे हुए और [सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य आदि रूप नाना प्रकारकी] मुक्ति-रूप नदियोंको [भी] उपेक्षा कर देनेवाले [अर्थात् भक्तिरसके सामने मुक्ति-सुखको भी हेय समझने वाले] भक्त-रूप मकरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

ज्ञान-कर्म-भक्तिवाद—

भारतके दार्शनिक एवं धार्मिक क्षेत्रमें त्रिपथगा गंगाकी तीन धाराओंके समान ज्ञान, कर्म और भक्तिकी तीन धाराएँ चिरकालसे अलग-अलग उपलब्ध होती आ रही हैं। यों तो जीवनको सफल बनाने और मानव-जीवनके परम लक्ष्य-रूप मुक्तिको प्राप्त करनेके लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनोंकी ही आवश्यकता पड़ती है। तीनोंमेंसे किसी एकका भी अभाव हो जाने पर इष्ट-सिद्धि सम्भव नहीं है। इसलिए तीनोंका समन्वय-मार्ग ही श्रेयस्कर-मार्ग है। यही मुख्य वैदिक सिद्धान्त है। किन्तु वेदोंके बाद ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदादिके रचना-कालमें ही ये तीनों धाराएँ अलग हो जाती हैं। वैदिक ऋचाओंमें इन्द्र, मित्र, वरुण, आदि अनेकानेक नामोंसे भगवान्की स्तुति की गई है। इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नाम किन्हीं भिन्न-भिन्न देवताओंके नाम नहीं हैं अपितु एक ही परमात्माके विविध गुणोंके आधार पर ये विभिन्न नाम वेदोंमें प्रयुक्त हुए हैं। स्वयं ऋग्वेदमें इस विषयका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
ऋग्वेद म० १, सू० १६४, मं० ४६ ।

इस प्रकार वैदिक संहिताओंमें एकेश्वरवादके साथ भक्तिमार्गका प्राधान्य पाया जाता है। श्रद्धा या भक्ति आन्तरिक मनोवृत्ति है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति कर्मके रूपमें होती है। वैदिक कालकी भक्ति ब्राह्मणकालमें मूर्तरूप धारणकर कर्मकाण्डके रूपमें अभिव्यक्त हुई। परन्तु यह कर्मकाण्ड भी दीर्घकाल तक सन्तोष प्रदान न कर सका। तब फिर एक बार भारतीय समाजने बहिर्मुखी वृत्तिको छोड़कर अन्तर्मुखी वृत्तिका अवलम्बन किया। यहींसे ज्ञानमार्गका उदय हुआ। यह काल उपनिषत्काल था। ब्राह्मणकाल कर्मकाण्ड-प्रधान था। उपनिषत्काल ज्ञान-प्रधान था। इन दोनोंके बीचमें आरण्यक-साहित्य और पाया जाता है। यह संक्रमण-काल है। कर्ममार्गसे ज्ञानमार्गका विकास कैसे हुआ, इसका समाधान आरण्यककाल के आधारपर ही होता है। ब्राह्मणकालमें बड़े बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया जाता था। उनके लिए बड़े साधन-सम्पत्ति आदिकी आवश्यकता होती थी। वनोंमें रहनेवाले सामान्य गृहस्थ आदि इस प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करनेमें समर्थ नहीं होते थे। इसलिए उन्होंने यज्ञोंको मानस-रूप प्रदान किया। अश्वमेध यज्ञके स्थान पर उसका मानस-चिन्तन 'उषा ह वै अश्वस्य मेध्यस्य शिर' इत्यादि रूपमें प्रारम्भ हुआ। इन्हीं मानस [illegible] ओंका वर्णन आरण्यक-ग्रन्थोंमें पाया जाता है। इस प्रकार आरण्यकोंने बाह्य [illegible] मानस

और ['प्रसृमर रुचि' अर्थात् अपने] सौन्दर्यसे [रुद्धतारकापालिः] जिन्होंने तारका और पाली [नामिका गोपियों] को वशमें कर लिया है [इसी प्रकार 'कलित श्यामा ललितः' अर्थात् अपने सौन्दर्यसे] श्यामा और ललिता [सखी नामक गोपियों] को अपने वशमें कर लेने वाले, एवं [राधाप्रेयान् अर्थात्] राधाको अत्यन्त प्रेम करने वाले [अथवा राधाके अत्यन्त प्रीति-भाजन 'विधु' अर्थात्] श्रीकृष्णचन्द्र [जयति] सर्वोत्कर्षशाली हैं। ['जयति' पदसे उन श्री कृष्णचन्द्रके प्रति नमस्कारका आक्षेप होता है। अर्थात् मैं उनको नमस्कार करता हूँ यह अर्थ सूचित होता है] ॥ १ ॥

यह ग्रन्थका मङ्गलाचरण-श्लोक है। इसमें 'राधाप्रेयान्' पद मुख्य वाक्य है, शेष तीनों चरण विशेषण रूप है। इसमें ग्रन्थकारने 'राधाप्रेयान् हरिर्जयति' न लिखकर 'राधा-प्रेयान् विधुर्जयति' लिखा है। 'विधु' शब्द सामान्यतः चन्द्रमाका वाचक है किन्तु अमरकोष आदिमें विष्णुके नामोंमें भी 'विधु' नाम दिया गया है। यहाँ 'विधुर्जयति' [illegible] द्वारा ग्रन्थकारने चन्द्रमाके साथ श्रीकृष्णचन्द्रके सादृश्यको [illegible] किया है, और उस सादृश्यका निर्वाह करनेके लिए श्लोकके शेष तीन चरणोंमें [illegible] विशेषण प्रस्तुत किये है जो चन्द्रमा और श्रीकृष्णचन्द्र दोनोंके पक्षमें समन्वित होते हैं। इसमें 'प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः' यह द्वितीय विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य है। चन्द्रमाके पक्षमे उसका 'अपनी फैली हुई कान्तिसे जिसने तारकोंकी पालि अर्थात् पंक्तिको अभिभूत कर दिया है' यह अर्थ सीधा लग जाता है। श्रीकृष्ण-पक्ष में 'तारकापालि' पदसे तारका और पाली नामकी दो गोपियोंका ग्रहण होता है। वैसे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रिय गोपियों में प्रायः श्यामा, ललिता आदि गोपियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। उनके नामोंका उल्लेख ग्रन्थकारने तीसरे चरणमें किया है। यहाँ जिन तारका और पाली आदि गोपियोंका उल्लेख किया है वे उतनी प्रसिद्ध गोपियाँ नहीं है। फिर भी उनका नाम श्रीकृष्णकी प्रिय गोपियोंके रूपमें भविष्योत्तर-पुराणमें निम्न प्रकार उल्लिखित हुआ है—

गोपाली पालिका धन्या विशाखान्या धनिष्ठिका।
राधानुराधा सोमाभा तारका दशमी तथा ॥

इस श्लोकमें 'तारका' नाम तो स्पष्ट रूपसे आया है, 'पाली' नाम नहीं आया है, उसके स्थान पर 'पालिका' नाम आया है। ग्रन्थकार रूपगोस्वामि-महोदयने उसी 'पालिका' को अपने श्लोकमें 'पालि' नामसे कहा है। इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रके पक्षमें द्वितीय चरणकी सङ्गति ठीक बन जाती है।

श्रीकृष्णचन्द्रके पक्षमें द्वितीय चरणकी सङ्गति लगानेमें जिस प्रकार थोड़ासा प्रयत्न करना होता है उसी प्रकार चन्द्रमा-पक्षमे चतुर्थ चरणकी सङ्गति लगानेके लिए थोड़ेसे प्रयत्नकी आवश्यकता होती है। 'राधाप्रेयान् विधुर्जयति' इस चरणमें 'राधाप्रेयान्' पदकी सङ्गति श्रीकृष्णके पक्षमें तो अनायास ही लग जाती है। किन्तु चन्द्रमा-पक्षमें उसकी सङ्गति लगानेके लिए राधा पदका अर्थ 'दुर्गमसङ्गमनी'-टीकाकार 'जीवगोस्वामी'ने 'विशाखा नाम्ना तारायां' किया है। विशाखा-नक्षत्रसे युक्त होनेसे विशाखा नक्षत्र वाली पूर्णमासीसे युक्त मास का नाम वैशाख होता है। वैशाखकी पूर्णिमाका चन्द्रमा 'विशाखा प्रेयान्' हो सकता है। उसीका ग्रहण यहाँ 'राधा प्रयान्' इस पदसे किया गया है यह दुर्गमसङ्गमनीकार श्रीजीव

हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽहं वराकरूपोऽपि ।
तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य ॥ २ ॥
विश्रामन्दिरतया तस्य सनातनतनोर्मदीशस्य ।
भक्तिरसामृतसिन्धुर्भवतु सदाऽयं प्रमोदाय ॥ ३ ॥

गोस्वामीका अभिप्राय है। यों तो 'राधाप्रेयान्' इस श्लेषके निर्वाहके लिए ही यहाँ वैशाखी पूर्णिमाके चन्द्रमासे कृष्णका साम्य दिखलाया है। परन्तु वैशाख मास वसन्त ऋतुमें आ जाता है इसलिए उसका विशेष महत्त्व है। इसलिए वैशाखी पूर्णिमा अर्थात् ऋतुराज वसन्तकी पूर्णिमाके चन्द्रके साथ श्रीकृष्णचन्द्रका साम्य दिखलाते हुए ग्रन्थकारने ग्रन्थके इस प्रारम्भिक श्लोकमें अपने इष्टदेवको नमस्कार किया है॥ १ ॥

गुरु-वन्दना—

इस प्रकार प्रथम श्लोक में अपने इष्टदेवको नमस्कार करनेके बाद द्वितीय श्लोकमें ग्रन्थकार अपने गुरुदेव श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु की वन्दना करते हुए लिखते हैं—

अब [अपने] हृदयमें जिनकी [ओरसे] प्रेरणा पाकर [वराकरूपोऽपि] क्षुद्र रूप [अल्प सामर्थ्य वाला] भी मैं [इस ग्रन्थके निर्माणमें] प्रवृत्त हो रहा हूँ उन [विष्णु-स्वरूप] श्रीकृष्ण चैतन्यदेवके चरण कमलों की वन्दना करता हूँ॥ २ ॥

उन नित्य [कूटस्थ] रूप [सनातनतनोः] मेरे प्रभु [विष्णु अथवा महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य] का विश्राम-धाम होनेसे यह 'भक्तिरसामृतसिन्धु' [नामक ग्रन्थ] उनको सदा आनन्द प्रदान करने वाला हो॥ ३ ॥

यह श्लोक यों तो बड़ा सीधा-सादा है किन्तु है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण। इसमें कई विशेष बातें ध्वनित होती हैं। यह श्लोक गुरु-वन्दनाके प्रसंगमें लिखा गया है। पर उसमें गुरु शब्द या उनके नामका उल्लेख नहीं है। श्लोकका सीधा अर्थ 'मदीशस्य' मेरे प्रभु श्रीकृष्ण-परक प्रतीत होता है। विष्णु-भगवान् क्षीरसागरमें शयन करने वाले हैं। क्षीर-सागर उनका विश्राम-धाम, विश्राम-मन्दिर है। यह 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ भी 'अमृतसिन्धु' है। क्षीर-सागरके समान यह भी उनका विश्राम-मन्दिर है। इसलिए यह उनके लिए क्षीर-सागरके समान ही सदा आनन्ददायक हो, यह श्लोकका सीधा-सादा वाच्यार्थ है। पर इसमें 'मदीशस्य' पद अपने वाच्यार्थसे अधिक कुछ गहरा जा रहा है। वह 'मेरे प्रभु' 'महाप्रभु' का स्पर्श-सा करता हुआ प्रतीत होता है। ग्रन्थकार अपने गुरुदेव 'महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य देव' को अपने इष्टदेवसे अभिन्न बनाकर यहाँ 'मदीशस्य' पदसे कदाचित् उनकी ओर ही संकेत कर रहे हैं। यह श्लोकका वाच्यार्थ नहीं है। व्यंग्यार्थ ही हो सकता है।

इसी प्रकार 'सनातनतनोः' में आया हुआ 'सनातन' पद भी यहाँ विशेष महत्त्वपूर्ण है। वैसे 'सनातनतनोः' पदका सीधा अर्थ नित्य-स्वरूप है और वह 'मदीशस्य' का विशेषण है। पर जैसे 'मदीशस्य' पदके ऊपर अव्यक्त रूपसे ग्रन्थकारके गुरुदेव 'महाप्रभु चैतन्यदेव' के नामकी छाया प्रतिबिम्बित हो रही है, उसी प्रकार इस 'सनातन' पदके ऊपर ग्रन्थकार के ज्येष्ठ भ्राता सनातनदेवके नाम की छाया प्रतिबिम्बित हो रही है। महाप्रभु चैतन्यदेवके

६ प्रमुख शिष्य थे १ रूप २ ३ जीव ४ रघुनाथदास ५ २ और

६ गोपालभट्ट । इनमें से रूप और सनातन दोनों सगे भाई थे और जीव उनके भतीजे थे । छहों वृन्दावनके षड् गोस्वामियोंके रूपमें भक्ति-सम्प्रदायके प्रमुख 'आचार्यों' के रूपमें प्रसिद्ध हैं । इस ग्रन्थके निर्माता रूपगोस्वामीको गुरु-वन्दनाके इस प्रसंगमें गुरुदेवके स्मरणके साथ अपने ज्येष्ठ भ्राता सनातनका भी स्मरण हो [illegible] अभीष्ट [illegible] है । इसलिए 'सनातन' पद उनकी ओर संकेत भी कर रहा है ।

ग्रन्थकारने प्रथम एक श्लोकमें अपने इष्टदेवकी वन्दना की है । उसके बाद दूसरा श्लोक गुरु-वन्दनाके रूपमें लिखा है । इस तीसरे श्लोकका सम्बन्ध ईश-वन्दनासे न होकर गुरु-वन्दनाके साथ ही हो सकता है । यदि इसमें ग्रंथकारको ईश-वन्दना अभिप्रेत होती तो वे इसे गुरु-वन्दना वाले द्वितीय श्लोकके पहले ही लिखते । गुरु-वन्दनाके बाद फिर दुबारा ईशवन्दनाके विषयको उठाना उचित नहीं है । इसलिए यह स्पष्ट है कि यह श्लोक ईशवन्दनासे सम्बद्ध न होकर गुरुवन्दनाके साथही सम्बद्ध है । उस दशामें 'महीतल्य' पदसे 'महाप्रभु चैतन्यदेव' का ग्रहण ही ग्रन्थकारको अभिप्रेत हो सकता है और वह उनके प्रथम श्लोककी रचनाके साथ मेल भी खाता है । प्रथम श्लोकमें ग्रन्थकारने 'हरिर्जयति' न [illegible] 'विधुर्जयति' लिखा है । अर्थात् हरिके ऊपर विधुका आरोप करके श्लिष्ट परम्परित रूपक द्वारा अपने इष्टदेवकी स्तुति की है । इसी प्रकार इस श्लोकमें अपने गुरुदेवके ऊपर [illegible] 'महीशत्व' का, और अपने ज्येष्ठ भ्राता सनातनके ऊपर विष्णुके सनातन-देहका आरोप करके श्लिष्ट परम्परित रूपक द्वारा अपने गुरुदेवकी स्तुति तथा अपने ज्येष्ठ भ्राता सनातनदेवका स्मरण किया है ॥२॥

भक्त-वन्दना—

'भक्तिरसामृतसिन्धु' जैसा कि उसके नामसे ही स्पष्ट है भक्ति-सिद्धान्तका प्रतिपादक ग्रन्थ है । इसलिए उसमें भक्तोंका भी विशेष महत्त्व स्वतःसिद्ध है । इसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने अपने इष्टदेव और और गुरुदेवकी वन्दना करनेके बाद अगले श्लोकमें भक्तजनोंकी वन्दना की है । इस प्रसंगमें ग्रन्थकारको श्लिष्ट परम्परित रूपक बड़ा प्रिय अलंकार प्रतीत होता है ।

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् ।
तत् परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥

यह परम्परित रूपकका लक्षण है । जहाँ एक वस्तु पर किसीका आरोप अन्य वस्तुपर भी किसी अन्यके आरोपका कारण होता है, उसको परम्परित रूपक कहा जाता है । यह कहीं श्लिष्ट-शब्दोंके आधारपर और कहीं अश्लिष्ट शब्दोंके आधारपर दोनों ही प्रकारका होता है । यहाँ ग्रन्थकारने अपने इष्टदेवकी वन्दनामें भी इसी श्लिष्ट परम्परित रूपकका आश्रय लिया है और अपने गुरुदेवकी वन्दना भी इसी रूपकके आधार पर की है । इस प्रकार तीसरे स्थान पर भक्तजनोंकी वन्दनामें भी उन्होंने इसी श्लिष्ट परम्परित रूपकका अवलम्बन किया है । भक्तिरसको ग्रन्थकारने अमृतका सिन्धु माना है । इसलिए भक्तिरसमें लवलीन भक्तजनों पर उन्होंने सिन्धुमें विचरण करने वाले मकरोंका आरोप किया है । भक्तगण अपनी भक्तिके प्रभावसे मृत्युपाशसे मुक्त हो जाते हैं जैसे समुद्रमें विचरण करने वाले मकरोंको जालमें फँसनेका भय नहीं रहता है इसी प्रकार भक्तजन कालके जालमें नहीं आते हैं । इस प्रकार कालके ऊपर जालका आरोप भी इसी परम्परित रूपककी एक शृङ्खला है । इसी आधार पर [illegible] की वन्दना करते हुए लिखते हैं

भक्तिरसामृतसिन्धौ चरतः परिभूतकालजालभियः ।
भक्तमकरानशीलितमुक्तिनदीकान्नमस्यामि ॥ ४ ॥

भक्तिरस-रूप अमृतके सागरमें विहरण करनेवाले, मृत्युपाशके भयको परे पहुँचे हुए और [सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य आदि रूप नाना प्रकारकी] मुक्ति-रूप नदियोंको [भी] उपेक्षा कर देनेवाले [अर्थात् भक्तिरसके सामने मुक्ति-सुखको भी हेय समझने वाले] भक्त-रूप मकरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

ज्ञान-कर्म-भक्तिवाद—

भारतके दार्शनिक एवं धार्मिक क्षेत्रमें त्रिपथगा गंगाकी तीन धाराओंके समान ज्ञान, कर्म और भक्तिकी तीन धाराएँ चिरकालसे अलग-अलग उपलब्ध होती आ रही हैं। यों तो जीवनको सफल बनाने और मानव-जीवनके परम लक्ष्य-रूप मुक्तिको प्राप्त करनेके लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनोंकी ही आवश्यकता पड़ती है। तीनोंमेंसे किसी एकका भी अभाव हो जाने पर इष्ट-सिद्धि सम्भव नहीं है। इसलिए तीनोंका समन्वय-मार्ग ही श्रेयस्कर-मार्ग है। यही मुख्य वैदिक सिद्धान्त है। किन्तु वेदोंके बाद ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदादिके रचना-कालमें ही ये तीनों धाराएँ अलग हो जाती हैं। वैदिक ऋचाओंमें इन्द्र, मित्र, वरुण, आदि अनेकानेक नामोंसे भगवानकी स्तुति की गई है। इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नाम किन्हीं भिन्न-भिन्न देवताओंके नाम नहीं हैं अपितु एक ही परमात्माके विविध गुणोंके आधार पर ये विभिन्न नाम वेदोंमें प्रयुक्त हुए हैं। स्वयं ऋग्वेदमें इस विषयका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
ऋग्वेद म० १, सू० १६४, मं० ४६ ।

इस प्रकार वैदिक संहिताओंमें एकेश्वरवादके साथ भक्तिमार्गका प्राधान्य पाया जाता है। श्रद्धा या भक्ति आन्तरिक मनोवृत्ति है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति कर्मके रूपमें होती है। वैदिक कालकी भक्ति ब्राह्मणकालमें मूर्तरूप धारणकर कर्मकाण्डके रूपमें अभिव्यक्त हुई। परन्तु यह कर्मकाण्ड भी दीर्घकाल तक सन्तोष प्रदान न कर सका। तब फिर एक बार भारतीय समाजने बहिर्मुखी वृत्तिको छोड़कर अन्तर्मुखी वृत्तिका अवलम्बन किया। यहींसे ज्ञानमार्गका उदय हुआ। यह काल उपनिषत्काल था। ब्राह्मणकाल कर्मकाण्ड-प्रधान था। उपनिषत्काल ज्ञान-प्रधान था। इन दोनोंके बीचमें आरण्यक-साहित्य और पाया जाता है। यह संक्रमण-काल है। कर्ममार्गसे ज्ञानमार्गका विकास कैसे हुआ, इसका समाधान आरण्यककाल के आधारपर ही होता है। ब्राह्मणकालमें बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया जाता था। उनके लिए बड़े साधन-सम्पत्ति आदिकी आवश्यकता होती थी। वनोंमें रहनेवाले सामान्य गृहस्थ आदि इस प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करनेमें समर्थ नहीं होते थे। इसलिए उन्होंने यज्ञोंको मानस-रूप प्रदान किया। अश्वमेध यज्ञके स्थान पर उसका मानस-चिन्तन 'उषा ह वै अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इत्यादि रूपमें प्रारम्भ हुआ। इन्हीं मानस उपासनाओंका वर्णन आरण्यक-ग्रन्थोंमें पाया जाता है इस प्रकार आरण्यकों ने बाह्य मानस

भाष्य बनाकर ज्ञानमार्गका पथ प्रशस्त कर दिया। उसीके परिणामस्वरूप अगली सीढ़ी पर विशुद्ध ज्ञान-प्रधान उपनिषत्साहित्यकी रचना हुई। इस प्रकार एक ओर मानव मनोवृत्ति रूप वैदिककालीन भक्तिने मूर्तरूपमें आकर बाह्य कर्मकाण्डका रूप धारण किया। और फिर ब्राह्मणकालका बाह्य स्थूल कर्मकाण्ड अन्तर्मुखी वृत्तिका रूप धारण कर उपनिषत्कालके ज्ञानकाण्डमें परिवर्तित हो गया। यह भक्ति, कर्म और ज्ञानके विकासकी संक्षिप्त कहानी है।

उत्तरवर्ती कालमें ज्ञान, कर्म और भक्तिको लेकर बड़ा संघर्ष रहा है। दर्शनोंमें पूर्वमीमांसादर्शन मुख्य रूपसे कर्मकाण्डका प्रतिपादक दर्शन है। और उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त दर्शन मुख्य रूपसे ज्ञानमार्गका प्रतिपादक दर्शन है। इन दोनों दर्शनोंके अनुयायियोंके बीच बड़ा विवाद रहा है। यह विवाद ज्ञान और कर्मका विवाद है। कर्मकाण्डी मीमांसक कर्मको ही साक्षात् मुक्ति या इष्टसिद्धिका मार्ग मानते हैं और ज्ञानको उसका अंग या अप्रधान साधन मानते है। इसके विपरीत ज्ञानमार्गका प्रतिपादन करने वाले वेदान्ती ज्ञानको मोक्षका साक्षात् साधन और कर्मको केवल बुद्धि-शुद्धिका प्रयोजक अप्रधान साधन मानते हैं। कुमारिलभट्ट आदि मीमांसादर्शनके प्रमुख आचार्य हैं। श्रीशंकराचार्य ज्ञानमार्गके प्रमुख प्रतिष्ठापक हैं।

ज्ञानमार्गके प्रमुख प्रतिष्ठापक श्रीशंकराचार्य (७८८-८२०) शैव मतके अनुयायी और अद्वैत-सिद्धान्तके मानने वाले हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखकर अपने अद्वैत-सिद्धान्त और ज्ञानमार्गके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। ब्रह्मसूत्रोंके अतिरिक्त गीता और उपनिषदों पर भी उन्होंने इसी दृष्टिकोणके समर्थक विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे हैं। गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र इन तीनोंको मिलाकर 'प्रस्थानत्रयी' नामसे कहा जाता है। भारतके धार्मिक साहित्यमें इस प्रस्थानत्रयीका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रायः सभी सम्प्रदायों के आचार्योंने इस 'प्रस्थानत्रयी' पर अपने-अपने मतके समर्थक भाष्य लिखनेका यत्न किया है। अकेले 'ब्रह्मसूत्र' पर विभिन्न साम्प्रदायिक दृष्टिकोणोंसे मुख्यतः निम्नलिखित दस भाष्य लिखे गए हैं—

संख्या	भाष्यकारका नाम और समय	भाष्य-नाम	मत
१.	श्रीशंकराचार्य [७८८-८२०]	शारीरक-भाष्य	अद्वैतवाद
२.	श्रीभास्कराचार्य [१००० ई०]	भास्कर-भाष्य	भेदाभेदवाद
३.	श्रीरामानुजाचार्य [११४० ई०]	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैतवाद
४.	श्रीमाध्वाचार्य [१२३८ ई०]	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैतवाद
५.	श्रीनिम्बाचार्य [१२५० ई०]	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैतवाद
६.	श्रीकण्ठाचार्य [१२७० ई०]	शैवभाष्य	शिवविशिष्टाद्वैत
७	श्रीपति आचार्य [१४००]	श्रीकरभाष्य	वीरशैव-विशिष्टाद्वैत
८.	श्रीवल्लभाचार्य [१४७९-१५४४]	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९.	श्रीविज्ञानभिक्षु [१६००]	विज्ञानामृतभाष्य	अविभागाद्वैत
१०.	श्रीबलदेव [१७२५]	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

इन भाष्यकारोंमें शैव तथा वैष्णव दोनों प्रकारके आचार्योंका समावेश है। शंकर श्रीकण्ठ और श्रीपति आदि शैव मतके अनुयायी हैं तो रामानुज मध्व निम्बार्क वल्लभ

मीमांसकबडवाऽग्नेः कठिनामपि कुण्ठयन्नसौ जिह्वाम् ।
स्फुरतु सनातन ! सुचिरं तव भक्तिरसामृताम्भोधिः ॥ ५ ॥

और बलदेव आदि वैष्णव मतके अनुयायी हैं। शैवमतके आचार्य शंकर आदि ज्ञानमार्गी हैं और वैष्णव मतके आचार्य निम्बार्क आदि भक्तिमार्गी आचार्य हैं। भक्तिमार्गके आचार्योंमें श्री महाप्रभु चैतन्यदेवका प्रमुख स्थान है, किन्तु उन्होंने वेदान्तसूत्रों पर भाष्य आदि लिखने का यत्न नहीं किया है। इसलिए उनका नाम इस सूचीमें नहीं आया है। परन्तु इनमेंसे अन्तिम श्री बलदेवक्रृत गोविन्दभाष्य चैतन्यमत-सम्मत भाष्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आठवीं शताब्दीसे लेकर अठारहवीं शताब्दी तक लगभग ११०० वर्षोंका समय भारतके धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्यमें बड़ा महत्त्वपूर्ण समय रहा है। इसमें ज्ञान, कर्म और भक्तिकी प्रधानता-अप्रधानताको लेकर बड़ा विवाद होता रहा है। इस विवादमें भाग लेने वाले अधिकांश आचार्य दक्षिण भारतमें उत्पन्न हुए थे, किन्तु उनका प्रभाव सारे भारतमें व्याप्त है।

मीमांसकोंका निराकरण –

ऊपरके इस विवेचनसे हमने यह देखा कि पूर्व-मीमांसा अर्थात् मीमांसादर्शनमें मुख्य रूपसे कर्म-मार्गका और उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदांत-दर्शनमें मुख्य रूपसे ज्ञानमार्गका प्रतिपादन पाया जाता है। और ज्ञान तथा कर्मकी प्रधानता तथा अप्रधानताका विवाद मुख्य रूपसे इन दोनों मीमांसकोंके बीच ही होता रहा है। भक्तिरसामृतसिन्धुके निर्माता श्री रूपगोस्वामिमहोदयने अपने इस ग्रन्थ द्वारा ज्ञान और कर्मके विवादको समाप्त कर उनके स्थान पर भक्ति-मार्गकी स्थापना की है। इसलिए अगले श्लोकमें ज्ञान और कर्ममार्गके निराकरणकी चर्चा की है। इस श्लोकमें भी उन्होंने अपनी श्लिष्ट परम्परित रूपककी शैली को अपनाया है। कवि-कल्पनाके अनुसार समुद्रमें बड़वानलकी स्थिति मानी जाती है। किन्तु समुद्र उस बड़वानलको सदा शान्त करता रहता है। इसी प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ, कर्म-मार्गी पूर्व-मीमांसक और ज्ञानमार्गी उत्तरमीमांसक, दोनों मीमांसकों पर बड़वाग्निका आरोप किया है। और उन मीमांसकरूप बड़वाग्निकी प्रखर तर्क-वितर्क-रूपी जिह्वाको शान्त करने वाले सिन्धुका आरोप अपने इस 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ पर करके दोनों मीमांसकोंका निराकरण इस प्रकार किया है—

[तर्कप्रधान पूर्व तथा उत्तर दोनों] **मीमांसकरूप बड़वानलकी** [तर्क-वितर्क रूप] **प्रखर जिह्वाको भी कुण्ठित करने वाला, हे सनातन प्रभो! आपका यह भक्तिरसामृतसिन्धु सदा प्रकाशित होता रहे** ॥ ५ ॥

ग्रन्थ की प्रस्तावना—

यद्यपि भारतीय साहित्यमें भक्ति-सिद्धान्तोंकी परम्परा चिरकालसे चली आ रही थी, किन्तु उसके स्वरूपका शास्त्रीय विवेचन रूपगोस्वामीसे पहले किसीने नहीं किया था। शास्त्रीय पद्धतिसे भक्तिरसकी स्थापना और उसके स्वरूपके विवेचनका श्रेय रूपगोस्वामीको ही प्राप्त है इस तथ्यको वे अगले श्लोकमें अत्यन्त नम्रतापूर्वक प्रदर्शित करते हुए

भक्तिरसस्य प्रस्तुतिरखिलजगन्मङ्गलप्रसङ्गस्य ।
अज्ञेनापि मयाऽस्य क्रियते सुहृदां प्रमोदाय ॥ ६ ॥
एतस्य भगवद्भक्तिरसामृतपयोनिधेः ।
चत्वारः खलु वक्ष्यन्ते भागाः पूर्वादयः क्रमात् ॥ ७ ॥

अल्पज्ञ होते हुए भी मनन [भक्तिमार्गके अनुयायी] सुहृदोंके सुखके लिए मैं समस्त जगत्को मंगल प्रदान करने वाले भक्तिरसको [अर्थात् भक्तिरसके शास्त्रीय स्वरूपको अपने इस भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थके द्वारा] प्रस्तुत कर रहा हूँ ॥ ६ ॥

इस श्लोकमें ग्रन्थकारने अपनेको 'अज्ञ' कहा है यह उनकी विनम्रताका ही सूचक है, अज्ञताका नहीं। इसी प्रकार द्वितीय श्लोकमें उन्होंने 'वराकरूपोऽपि' लिखकर अपनी नम्रताका ही परिचय दिया है। 'दुर्गमसङ्गमनी'-कारने इन पदोंमें दूसरा अर्थ भी दिखलाने का यत्न किया है। 'अज्ञ' शब्दका 'जानातीति ज्ञः। न विद्यते ज्ञो यस्मात् सो अज्ञः।' जानने वाले अर्थात् विद्वान्का नाम 'ज्ञः' है और जिससे अधिक बड़ा 'ज्ञ' अर्थात् विद्वान् नहीं है, वह 'अज्ञ' अर्थात् सबसे बड़ा विद्वान्, यह 'अज्ञ' शब्दका दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है। इसी प्रकार द्वितीय श्लोकमें आये हुए 'वराकरूपोऽपि' की भी 'दुर्गमसङ्गमनी'-कारने दूसरे प्रकारकी व्याख्याकी है। 'वरं या समन्तात् कायति इति वराकः', यह वराक शब्दकी दूसरी व्युत्पत्ति हो सकती है। इसके अनुसार 'सुन्दर भक्तितत्त्वको प्रतिपादन करने वाला' यह 'वराक' शब्दका अर्थ होगा। इस प्रकार नम्रता-सूचनके निमित्त लिखे गए 'अज्ञ' तथा 'वराक' विशेषणोंकी प्रकारान्तर की व्याख्या भी प्रस्तुत की जा सकती है। परन्तु वह ग्रन्थकारका अभिप्रेत अर्थ नहीं है। उनके भक्तजनोंकी लीला-मात्र है। ग्रन्थकारने तो केवल अपनी नम्रता सूचित करनेके लिए ही उनका प्रयोग किया है।

ग्रन्थका विभाजन—

ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थको 'सिन्धु' कहा है। प्राचीन विभाजनके अनुसार पूर्व-आदि चार दिशाओंके आधार पर समुद्र भी चार माने गए हैं। 'पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां' आदि उक्तियोंमें चार समुद्रोंका उल्लेख पाया जाता है। इसी आधार पर ग्रन्थकारने भी अपने इस 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थको चार भागोंमें विभक्त किया है और उनके नाम दिशाओंके आधार पर १. 'पूर्व विभाग', २. 'दक्षिण विभाग', ३. 'पश्चिम विभाग' और ४ 'उत्तर विभाग' आदि ही रखे हैं और फिर उन पूर्व-आदि भागोंको 'लहरियों' में विभक्त किया है। इस प्रकार ग्रन्थकारने अपने इस ग्रन्थमें अध्याय-पाद आदिके स्थान पर 'पूर्वभाग' और 'लहरी' आदिमें के रूपमें ग्रन्थके अवान्तर प्रकरणोंका विभाजन किया है। इसी विभाजनको वे अगले दो श्लोकोंमें निम्न प्रकार दिखलाते हैं—

इस भगवानकी 'भक्तिरसामृत' के सिन्धु [अर्थात् 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नामक ग्रन्थ] के क्रमसे पूर्व-आदि [अर्थात् १. पूर्व, २. दक्षिण, ३. पश्चिम, और ४. उत्तर] चार विभाग किए जावेंगे। [और फिर उनका अवान्तर विभाग 'लहरी' के रूपमें किया जायगा] ॥ ७ ॥

पूर्वभागका विभाजन—

इस चार प्रथम विभागमें भक्तिके भेदोंका निरूपण किया गया है। इस

तत्र पूर्वे विभागेऽस्मिन् भक्तिभेदनिरूपके ।
अनुक्रमेण वक्तव्यं लहरीणां चतुष्टयम् ॥८॥
आद्या सामान्यभक्त्याढ्या द्वितीया साधनाङ्किता ।
भावाश्रिता तृतीया चतुर्थी प्रेमनिरूपिका ॥९॥
तत्रादौ सुष्ठु वैशिष्ट्यमस्याः कथयितुं स्फुटम् ।
लक्षणं क्रियते भक्तेरुत्तमायाः सतां मतम् ॥१०॥

पूर्वविभागमें चार लहरियां रखी गई है। जिनमें क्रमशः भक्तिके पदोंका निरूपण किया गया है। इस बातको ग्रन्थकार अगले दो श्लोकोंमें लिखकर प्रथम विभागका विषयके सामान्य रूपसे परिचय कराते हुए लिखते हैं—

उन [चारों विभागों] मेंसे भक्तिके भेदोंका निरूपण करनेवाले इस 'पूर्वभाग' में क्रमशः [निम्नाङ्कित] चार 'लहरियाँ' कही जावेंगी ॥ ८ ॥

[उन चार लहरियोंमेंसे] पहली [लहरमें] सामान्य भक्ति [के वर्णन] का प्राधान्य [होगा]। दूसरी [लहरी] साधननामक [लहरी] तीसरी 'भावाश्रित' [लहरी] और चौथी 'प्रेमनिरूपिका' [लहरी] होगी ॥ ९ ॥

उनमेंसे सबसे पहिले इस [भक्ति] की विशेषताओंका भली प्रकारसे प्रतिपादन करनेके लिए विद्वानों द्वारा स्वीकृत उत्तम भक्तिका लक्षण [हम अगली कारिकामें प्रस्तुत] करते हैं ॥ १० ॥

भक्तिका लक्षण—

'लक्षणन्तु असाधारणधर्मवचनम्' किसी वस्तुके असाधारण अर्थात् विशेष धर्मका, जोकि केवल उसी पदार्थमें रहता है, कथन करना उसका लक्षण कहलाता है। यह लक्षण दो प्रकारका होता है। एक स्वरूप-लक्षण दूसरा तटस्थ-लक्षण। 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्' इस उक्तिके अनुसार दोनों प्रकारके लक्षणोंका मुख्य प्रयोजन व्यावृत्ति अर्थात् समानजातीय और असमानजातीय अन्य पदार्थोंसे भेद करना अथवा व्यवहारका प्रवर्तन कराना ही होता है। इनमेंसे 'स्वरूपान्तर्भूतत्वे सति व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्' जो वस्तुके स्वरूपके अन्तर्गत होकर अन्योंसे व्यावृत्ति कराने वाला होता है उसको स्वरूपलक्षण कहा जाता है। जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण है। क्योंकि वह ब्रह्मके स्वरूपके अन्तर्गत होकर अन्योंसे उनका व्यावर्तक होता है। 'जन्माद्यस्य यतः' यह ब्रह्मका तटस्थ-लक्षण है। सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ब्रह्मसे होते हैं। अन्य किसीसे नहीं होते। इसलिए इतर-व्यावर्तक तो होते हैं लेकिन वे ब्रह्मके स्वरूपके अन्तर्गत नहीं हैं। इस कारण यह ब्रह्मका 'तटस्थ-लक्षण' है। अगली कारिकामें ग्रन्थकार अपने प्रतिपाद्य विषय भक्तिका लक्षण करते हैं। उस एक ही कारिकामें भक्तिके 'स्वरूप-लक्षण' और 'तटस्थ-लक्षण' दोनों प्रकारके लक्षण प्रस्तुत कर दिये हैं उनके अनुसार भक्तिका लक्षण निम्न प्रकार

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥११॥

यथा श्रीनारदपञ्चरात्रे—

[किसी भी प्रकारकी] अन्य कामनाओंसे रहित [निर्विशेष ब्रह्मके स्वरूपानुसन्धान आदि रूप] ज्ञान और [श्रुत्यादि-प्रतिपादित यज्ञादि रूप] कर्म आदि [अर्थात् आदि शब्दसे ग्राह्य सांख्य योग आदिके विधानों के सम्बन्धोंसे] से अनाच्छादित, [सर्वथा] अनुकूल-भावनासे कृष्णका [मनसा, वाचा और कर्मणा अनुशीलन अर्थात्] सेवन 'उत्तम भक्ति' कहलाता है॥ ११ ॥

यह रूपगोस्वामीके अनुसार उत्तम भक्तिका लक्षण है। इस लक्षणको दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक 'स्वरूप-लक्षण' दूसरा 'तटस्थ-लक्षण'। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा' यह भक्तिका 'स्वरूप-लक्षण' है। और शेष 'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' यह उसका 'तटस्थ-लक्षण' है। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिः' यह अंश भक्तिके स्वरूपका परिचायक है, इसलिए यह 'स्वरूप-लक्षण' है। 'अनुशीलन' शब्दसे सभी क्रियामात्रका ग्रहण होता है। कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारकी क्रियाएँ हो सकती है। उन तीनों प्रकारकी क्रियाओंका ग्रहण इस 'अनुशीलन' शब्दमें किया जाता है। 'आनुकूल्यं चात्र उद्देश्याय कृष्णाय रोचमाना प्रवृत्तिः'। अपने उद्देश्य कृष्णको प्रिय लगने वाली प्रवृत्तिका ग्रहण 'आनुकूल्य' पदसे होता है। 'कृष्ण' शब्द यहाँ परमात्माका वाचक है। ग्रन्थकार कृष्णभक्त है इसलिए उन्होंने 'कृष्णानुशीलन भक्ति' यह 'भक्ति'का लक्षण किया है। किन्तु भक्ति-सिद्धान्त केवल कृष्णभक्तों तक ही सीमित नहीं है, सभी आस्तिक जन, जो किसी भी रूपमें ईश्वरकी सत्ता मानते हैं, ईश्वरभक्त हो सकते है। शिवका उपासक शैव भी भक्त है। विष्णुका उपासक वैष्णव भी भक्त है। रामके उपासक तुलसीदास भी भक्त शिरोमणि है और कृष्णके उपासक सूरदास भी भक्तशिरोमणि है। निराकार परमात्माका उपासक भी भक्त है और साकारकी उपासना करने वाला भी भक्त है। सभी अपने उद्देश्यकी अपने-अपने रूपसे उपासना करते है। और उन सभी वर्गोंमें विशिष्ट योग्यता वाले भक्त मिल सकते हैं। इसलिए भक्तिका क्षेत्र बहुत व्यापक है। यह केवल कृष्णभक्तों तक सीमित नहीं है। इसलिए जितना व्यापक भक्तिका क्षेत्र है उतना ही व्यापक भक्तिका लक्षण होना चाहिए। इसलिए 'कृष्ण' शब्द यहाँ परमात्माका ग्राहक है यह समझना चाहिए। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिः' का अर्थ अनुकूलतासे परमात्माका अनुशीलन अर्थात् परमात्माके प्रिय शारीरिक, वाचिक और मानसिक व्यापारोंका करना भक्ति कहलाती है। इस अभिप्राय को लेकर कृष्ण शब्दको परमात्मापरक माननेसे यह लक्षण व्यापक बन जाता है।

'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिः' यह भक्तिका स्वरूप-लक्षण हुआ। इस कारिकाका जो पूर्वार्द्ध-भाग शेष रह जाता है उसमें भक्तिका 'तटस्थ-लक्षण' प्रस्तुत किया गया है। 'अन्याभिलाषिताशून्य' और 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' ये दोनों भाग भक्तिके तटस्थ-लक्षणके रूप मे लिखे गए हैं। भक्त यदि किसी फल-विशेष की कामनासे कृष्णानुशीलन करता है तो उसका वह सकाम कर्म उत्तम भक्तिकी श्रेणीमे नहीं आता है निकृष्ट या मध्यम श्रेणीकी भक्तिमे

क्तं त्त्परत्वेन निर्मलम्
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥ १ ॥

तो उसकी गणना की जा सकती है किन्तु उत्तम भक्तिमें कर्मोंका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। केवल निष्काम-भावसे किये गए प्रभु-प्रिय व्यापार ही उत्तम भक्तिकी सीमामें आ सकते हैं। इसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने लक्षणमें 'उत्तमा' शब्दका प्रयोग किया है।

'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' पदके रखनेका अभिप्राय यह है कि ज्ञान-मार्गके अनुयायी वेदान्ती आदि ब्रह्मके स्वरूपके परिज्ञानको ही प्रधानता देकर ब्रह्मकी उपासना आदि करते हैं। योग-मार्गका अवलम्बन करने वाले योगियोंकी समाधि-साधनाका उद्देश्य भी पुरुषके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसी प्रकार कर्मकाण्डका अनुष्ठान भी विभिन्न प्रकारके फलों की कामनासे ही किया जाता है। ये सभी कार्य सकाम कर्मोंकी श्रेणीमें आते हैं। वे उत्तम भक्तिके अन्तर्गत नहीं हो सकते हैं। इसी बातको सूचित करनेके लिए 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' पद का प्रयोग किया गया है। यद्यपि इस पदका भाव 'अन्याभिलाषिताशून्य' पदके भीतर भी आ जाता है किन्तु प्रसिद्ध ज्ञानमार्ग और कर्ममार्गसे भक्ति-मार्गकी भिन्नता दिखलानेके लिए 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' इस पदका विशेष रूपसे प्रयोग किया गया है। उसके बिना ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्गसे भक्ति-मार्गकी विशेषता और भेद स्पष्ट नहीं हो सकता है। अतः इस पदका प्रयोग आवश्यक है।

'अन्याभिलाषिताशून्यता' और 'ज्ञानकर्माद्यनावृतता' ये दोनों भक्तिको ज्ञान, कर्म आदि अन्योंसे भिन्न करते हैं; इसलिए वे भक्तिके लक्षण तो हैं, किन्तु वे भक्तिके स्वरूपके अन्तर्गत नहीं हैं। जैसे ब्रह्मके लक्षणमें 'जन्माद्यस्य यतः' जिससे जगत्का जन्म आदि होता है वह ब्रह्म है, इस ब्रह्म-लक्षणमें जगत्का जन्मादि ब्रह्मका स्वरूपगत धर्म न होनेसे उसका केवल तटस्थ-लक्षण माना गया है, स्वरूप-लक्षण नहीं। इसी प्रकार यहाँ 'अन्याभिलाषिता-शून्य' आदि भक्तिके स्वरूपान्तर्गत न होनेसे स्वरूप-लक्षण नहीं हैं किन्तु इतर-व्यावर्तक होने से वे तटस्थ-लक्षण अवश्य हैं। और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह जैसे ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण है उसी प्रकार 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा' यह भक्तिका स्वरूप-लक्षण है—

भक्ति-लक्षण का समर्थन—

ग्रन्थकारने यहाँ जो भक्तिका लक्षण प्रस्तुत किया है उसके समर्थनके लिए उन्होंने आगे नारदपञ्चरात्रसे एक श्लोक उद्धृत किया है। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

जैसे श्री 'नारदपञ्चरात्र'में [कहा है]—

सब प्रकारकी उपाधियों [अर्थात् फल-कामनाओं] से विनिर्मुक्त, विशुद्ध [अर्थात् ज्ञान-कर्मादिके सम्पर्क या संकरसे रहित] और तन्मयतासे [हृषीकेण अर्थात्] समस्त इन्द्रिय-वर्गके द्वारा [हृषीकेश अर्थात् भगवान्] कृष्णका सेवन भक्ति कहलाता है ॥ १ ॥

'नारदपञ्चरात्र'में भक्तिका यह लक्षण किया गया है। इसीके आधार पर रूप-गोस्वामीने अपना भक्ति-लक्षण प्रस्तुत किया है। 'नारदपञ्चरात्र'में 'सर्वोपाधिविनिर्मुक्त' पदसे जिस भावको व्यक्त किया गया है उसे रूपगोस्वामीने 'अन्याभिलाषिताशून्य' पदसे व्यक्त किया है। 'नारदपञ्चरात्र' के 'निर्मल' पदके स्थान पर रूपगोस्वामीने 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' पदका प्रयोग किया है नारदपञ्चरात्र' का पद रूपगोस्वामीके लक्षणमें आनु

श्री भागवतस्य तृतीयस्कन्धे च—

> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।
> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ॥ २ ॥
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।
> स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ॥ ३ ॥ इति

सालोक्येत्यादिपद्यस्थभक्तोत्कर्षनिरूपणम् ।
भक्तेर्विशुद्धताव्यक्त्या लक्षणे पर्यवस्यति ॥ १२ ॥

कूल्येन' के रूपमें बदल गया है। और 'नारदपञ्चरात्र' का 'सेवनं' पद रूपगोस्वामीके लक्षणमें 'अनुशीलनं' के रूपमें दिखाई दे रहा है। इसलिए 'नारदपञ्चरात्र' में भक्तिका जो लक्षण किया गया है उसीको रूपगोस्वामीने यहाँ अपने शब्दोंमें नये रूपमें प्रस्तुत कर दिया है। इसीलिए उन्होंने अपने लक्षणके समर्थनमें 'नारदपञ्चरात्र'का यह श्लोक उद्धृत किया है ॥ ११ ॥

उत्तम भक्तिका उत्कर्ष—

भक्तिके उक्त लक्षणोंमें 'सर्वोपाधिविनिर्मुक्त' और 'अन्याभिलाषिताशून्य' पदोंके द्वारा जिस निष्काम-भावनाकी ओर संकेत किया गया है उसके उत्कर्षकी पराकाष्ठा वहाँ दिखलाई देती है जहाँ भक्त उपासक अपनी भक्तिके फलके रूपमें प्राप्त होने वाली समस्त ऋद्धि-सिद्धियोंको लात मार देता है। और न केवल ऋद्धि-सिद्धियोंको, अपितु एक बार प्राप्त होने पर मोक्षको भी ठुकरा देता है। वह भक्तिके उत्कर्षकी चरम सीमा है। पहुँचे हुए ऊँचे साधक भक्तको जो सुख भगवान्‌की उपासनामें मिलता है उसके आगे मोक्षका सुख भी उसे हेय प्रतीत होता है। इस बातके समर्थनके लिए ग्रन्थकारने भागवतके तृतीय स्कन्धसे निम्नांकित अभिप्रायके दो श्लोक उद्धृत किए हैं -

और [जैसे] भागवतके तृतीय स्कन्धमें [कहा है]--

[पुरुषोत्तम] भगवान्‌के विषयमें [भक्तजनोंकी] जो [अहैतुकी, अन्याभिलाषिताशून्य निष्काम अव्यवहित [अर्थात् ज्ञान-कर्म आदिसे अनावृत] भक्ति होती है जिसमें [मत्सेवन बिना] परमात्माकी उपासनाको छोड़कर दिए जाने वाले सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य और और सारूप्य [रूपा चार प्रकारकी मुक्तियों] को भी भक्तजन स्वीकार नहीं करते हैं। वहा [आत्यन्तिक अर्थात्] सर्वोत्कृष्ट भक्तियोग कहा गया है ॥ २-३ ॥

[उपर्युक्त] सालोक्य इत्यादि [मुक्तियोंके भी त्यागका वर्णन करने वाले] श्लोकमें भक्तिके जिस उत्कर्षका निरूपण किया गया है वह भी भक्तिकी विशुद्धताकी सूचना द्वारा [भक्तिके] लक्षण-रूपमें ही पर्यवसित होता है ॥ १२ ॥

भक्तिकी प्रशंसा—

पिछली कारिकामें ग्रन्थकारने भागवतके तृतीय स्कन्धके दो श्लोकोंके आधार पर भक्तिके चरम उत्कर्षका प्रतिपादन किया था और यह कहा था कि यह उत्कर्ष भी भक्तिके विशुद्ध स्वरूपका प्रतिपादन करता है इसलिए वह भी भक्तिके लक्षण-रूपमें ही पर्यवसित होता है। अगली कारिकामें वे छः विशेषणों द्वारा भक्तिकी प्रशंसा करते हैं। पूर्व उत्कर्षके समान यह प्रशंसा भी पमें पर्यवसित हो सकती है

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्ल्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा ॥१३॥

तत्राम्याः क्लेशघ्नत्वम्—

क्लेशस्तु पापं तद्बीजमविद्या चेति ते त्रिधा ।

तत्र पापम्—

अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धं चेति तद् द्विधा ॥१४॥

तत्राप्रारब्धहरत्वं यथैकादेशे—

यथाऽग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥४॥

प्रारब्धहरत्वं यथा तृतीये—

वह [पूर्वोक्त भक्ति] १ क्लेशोंका नाश करनेवाली, २ कल्याणोंको प्रदान करनेवाली, [अपने आनन्दके सामने] ३ मोक्षको भी तुच्छ बना देने वाली, ४ अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त होनेवाली, ५ अपरिमेय आनन्दविशेषसे परिपूर्ण [सान्द्रानन्दविशेषात्मा] और ६ भगवान्‌को [अपनी ओर] आकृष्ट करनेवाली [श्रीकृष्णाकर्षणी] होती है ॥ १३ ॥

क्लेशके भेद—

उन [छः विशेषणों] मेंसे [सबसे पहले] इस [भक्ति] के क्लेश-निवारकत्व [रूप प्रथम गुण] का वर्णन करते हैं]—

१ पाप, २ उसका बीज, और ३ अविद्या—यह तीन प्रकारका क्लेश होता है ।

उनमेंसे पाप [के भी निम्न दो भेद होते है]—

और वह १ अप्रारब्ध और २ प्रारब्ध [भेदसे] दो प्रकारका होता है ॥ १४ ॥

इस प्रकार इस कारिकामें ग्रन्थकारने पूर्वकारिकामें आये हुए 'क्लेशघ्नी' पदकी व्याख्या करते हुए क्लेशके १ पाप, २ उसका बीज और ३ अविद्या ये तीन भेद किये है । और उसमे भी प्रथम आये हुए 'पाप' के १ अप्रारब्ध और २ प्रारब्ध रूप दो भेद किये है । इस प्रकार 'क्लेश' के चार भेद हो जाते हैं । अन्यत्र योगदर्शन आदिमें सभी जगह अविद्याको पाप या क्लेशका बीज माना गया है । 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषा' आदि योगसूत्रमें अविद्याको ही अस्मिता आदि अन्य क्लेशोंका 'क्षेत्र' अर्थात् उत्पत्ति-स्थान या बीज बतलाया गया है । इस दृष्टिसे यहाँ भी 'तद्बीजमविद्या' को एक ही अर्थका वाचक मानना उचित होता, किन्तु ग्रन्थकारका अभिप्राय यह नहीं है; क्योकि आगे उन्होंने बीजहरत्व तथा अविद्याहरत्वकी पुष्टिमें अलग-अलग श्लोकोंका उद्‌धृत किया है ।

उनमेंसे [भक्ति द्वारा] अप्रारब्ध [अर्थात् संचित पापका निवारण [होता है] जैसाकि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [निम्न श्लोकमें दिखलाया गया है ।]—

जैसे भली प्रकारसे प्रज्वलित ज्वालाओं वाला अग्नि समिधाओंको भस्मसात् कर देता है, उसी प्रकार, हे उद्धव ! भगवान्‌की भक्ति [मद्विषया भक्तिः] पापोंको समूल नष्ट कर देती है ॥४॥

[दूसरे ———] प्रारब्ध [पाप] का विनाश [भक्ति द्वारा होता है] जैसा कि [ ] तृतीय स्कन्ध में [निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है

तेनाद्

यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥५॥

दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं मतम् ।
दुर्जात्यारम्भकं पापं यत्स्यात्प्रारब्धमेव तत् ॥१५॥

पाद्मे च—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं, बीजं फलोन्मुखम् ।
क्रमेणैव प्रलीयन्ते विष्णुभक्तिरतात्मनाम् ॥ ६ ॥

हे भगवान् ! जब आपके नामके सुनने और कीर्तनमात्रसे, आपकी भक्ति और स्मरण से भी, कभी-कभी [श्वाद.] चाण्डाल भी तुरन्त ही यज्ञका अधिकारी [द्विजाति] बन जाता है तो आपके दर्शनकी तो बात ही क्या है ॥ ५ ॥

प्रारब्धहरत्वका उपपादन—

भागवतका जो श्लोक यहाँ उद्धृत किया है उसमें स्पष्ट रूपसे प्रारब्धनाशका वर्णन नहीं किया गया है । उसमें केवल यह कहा गया है कि भगवान्‌के स्मरण और उनकी भक्ति [प्रह्वणात्] से [श्वाद] चाण्डाल भी यज्ञका अधिकारी [द्विज] बन जाता है । इसी कथनसे ग्रन्थकारने यह परिणाम निकाला है कि भगवान्‌की भक्ति प्रारब्ध पापोंको भी नष्ट कर देती है । श्लोकसे इस प्रकारका अभिप्राय निकालनेका कारण यह है कि चाण्डाल-योनि की प्राप्ति प्रारब्ध पापोंका ही फल है । हमारे अपरिसंख्येय पूर्वकर्मोंमेसे जिन कर्मोंके फलका भोग प्रारम्भ हो जाता है उनको ही 'प्रारब्ध' कर्म कहते हैं । फलभोगका प्रारम्भ शरीर-धारण या जन्मके द्वारा ही होता है । इसलिए प्रारब्ध कर्मोंके कारण ही जन्मकी प्राप्ति होती है । इस दृष्टिसे चाण्डाल-योनिकी प्राप्ति प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार ही होती है । चाण्डाल को वेदोंका ज्ञान नहीं होता है इसलिए वह यज्ञका अधिकारी नहीं माना जाता है । परन्तु भगवान्‌की भक्तिसे उसकी यह अयोग्यता नष्ट हो जाती है और वह भी द्विजातियोंके समान यज्ञका अधिकारी हो जाता है। इसलिए भक्तिके द्वारा प्रारब्ध पापोंका भी नाश हो सकता है, यह इस श्लोकका भाव मानकर ही ग्रन्थकारने उसे प्रारब्धहरत्वके पोषक प्रमाणके रूपमें यहाँ उद्धृत किया है । अपनी इसी युक्तिके द्वारा वे इस श्लोकके प्रारब्धहरत्वका उपपादन अपनी अगली कारिकामें निम्न प्रकार करते हैं—

यज्ञाधिकारी न होनेका कारण, नीच जाति [कुजातिमें जन्म लेना] ही है । [इस-लिए उस] दुर्जातिको देनेवाला जो पाप है वह प्रारब्ध ही है । [भगवान्‌की भक्तिसे उस प्रारब्ध पापका नाश होकर चाण्डालको भी यज्ञाधिकार प्राप्त हो जाता है इसलिए भगवद्-भक्तिका प्रारब्धहरत्व स्पष्ट हो जाता है] ॥ १५ ॥

और पद्मपुराणमें भी [निम्न श्लोक द्वारा भक्तिके प्रारब्धहरत्वका प्रतिपादन किया गया है]—

जिनका आत्मा [विष्णु] भगवान्‌की भक्तिमें लगा रहता है उनके १   २ [कूट

बीजहृरत्व यथा षष्टे

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥ ७ ॥

अविद्याहृरत्वं यथा चतुर्थे—

यत्पादपंकजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध—
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥ ८ ॥

अर्थात् सूक्ष्म बीज [रूप वासनामय पाप] और ३. फलोन्मुख [अर्थात् प्रारब्ध रूप ये तीनों प्रकारके पाप] क्रमसे नष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ॥

बीजहृरत्व—

१३ वीं कारिकामें ग्रन्थकारने भक्तिके जो छः रूप बतलाए थे उनमेंसे सबसे पहले पहले क्लेशघ्नी-रूप की यह व्याख्या चल रही है। इसमें क्लेश पदके १. पाप, २. उसका बीज और ३. अविद्या ये तीन भेद किये थे। इनमेंसे भी क्लेश पापके प्रारब्ध और अप्रारब्ध ये दो भेद किये थे। इन दोनोंका भक्ति द्वारा नाश हो सकता है। इस बातका प्रतिपादन भागवत तथा पद्मपुराणके दो श्लोकों द्वारा ऊपर दिखलाया जा चुका है। अब आगे भक्ति द्वारा क्लेशके बीजरूप दूसरे भेदके नाश बीजहृरत्वके समर्थनके लिए वे भागवतके षष्ठ-स्कन्धका श्लोक उद्धृत करते हैं।

[भक्तिके] बीजहरत्व [का समर्थक प्रमाण] जैसे [भागवतके] षष्ठ [स्कन्ध] में [निम्न श्लोक पाया जाता है]—

उन-उन तप, दान, व्रत आदि [उत्तम कर्मों] से उन-उन पापोंका नाश तो हो जाता है किन्तु उनके बीज [हृदयं] का नाश नहीं होता है। भगवान्‌के चरणोंकी सेवासे [अर्थात् भगवान्‌की भक्तिसे] वह [अर्थात् बीजका नाश] भी हो जाता है ॥ ७ ॥

अविद्याहृरत्व—

क्लेशके १. पाप, २. बीज और ३. अविद्या ये तीन भेद किये थे। उनमेंसे भक्तिके द्वारा पापहृरत्व तथा बीजहृरत्वका समर्थन कर चुकनेके बाद अब भक्तिके अविद्याहृरत्वके समर्थनकेलिए ग्रंथकार भागवत तथा पद्मपुराणसे दो श्लोक आगे उद्धृत करते हैं।

[भक्तिके] अविद्यानाशकत्व [का समर्थक प्रमाण] जैसे [भागवतके] चतुर्थ [स्कन्ध] में [निम्न श्लोक पाया जाता है]—

जिनके चरण-कमलोंके पत्रोंकी भक्तिसे सज्जन पुरुष [जटिल रूपसे] उलझे हुए कर्माशयकी ग्रंथियोंका मोचन करते हैं उस प्रकार [रिक्तमतयः अर्थात्] भगवान्‌की भक्तिसे रहित बुद्धि वाले और अपनी इन्द्रियोंके दमनमें लगे हुए योगी [आदि कर्माशयके बन्धनोंका मोचन] नहीं कर पाते हैं उन [अरणं] सुखस्वरूप भगवान् [वासुदेव] का भजन करो ॥ ८ ॥

इस श्लोकमें 'अरणं' पद आया है। महाकवि भवभूति आदिने 'रण-रणकेन' आदि स्थलोंमें दुःखके अर्थमें 'रण' शब्दका प्रयोग किया है। इसलिए हमने 'अरणं' शब्दका अर्थ सुख-स्वरूप किया है दुर्गमसंगमनीकारने 'अरणं' का अर्थ 'शरणं' किया है

पाद्मे

कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा
अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम् ॥ १ ॥

शुभदत्वम्—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता ।
सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः ॥ १६ ॥

इस श्लोकको ग्रन्थकारने भक्तिके 'अविद्याहरत्वके समर्थनमें' प्रस्तुत किया है। किन्तु इसमें कर्माशयकी ग्रन्थियोंके मोचनका वर्णन है। अविद्याहरत्वका स्पष्ट रूपमें प्रतिपादन नहीं है। उसे विशेष व्याख्या द्वारा समझना होगा। 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' योग के इस सूत्रके अनुसार अविद्या-रूप बीजकी विद्यमानतामें ही कर्माशयका जाति, आयु, भोग आदि रूप फल प्राप्त होता है। अविद्याके नष्ट हो जाने पर कर्माशयमें फल-प्रदानकी सामर्थ्य नहीं रहती है। यहाँ भक्तिके द्वारा कर्म-ग्रन्थियोंके मोचनकी जो चर्चा की गई है वह अविद्या के नाश होने पर ही सम्भव है। अविद्याके रहते कर्माशयकी ग्रन्थियोंका मोचन सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिए श्लोकमें कहे हुए कर्माशय-ग्रन्थियोंके मोचनसे अविद्याका नाश स्वतः प्राप्त हो जाता है। इसी कारण ग्रन्थकारने इसे अविद्याहरत्वके समर्थक प्रमाणके रूपमें उपस्थित किया है। अविद्याहरत्वका समर्थक दूसरा प्रमाण उन्होंने पद्मपुराणमें उद्धृत किया जो निम्न प्रकार है—

पद्मपुराणमें [भी भक्तिके अविद्याहरत्वका प्रतिपादन निम्न प्रकार किया गया है]

[सम्पूर्ण] विद्याएँ जिसका अनुसरण करती हैं इस प्रकारकी सर्वोत्तम भक्ति अविद्या को उसी प्रकार तुरन्त भस्म कर देती हैं जिस प्रकार दावानल [पन्नगी अर्थात् सर्पिणीको [भस्म कर देता है] ॥ १ ॥

भक्तिका शुभदत्व गुण—

१३ वी कारिकामें भक्तिके जो छः गुण गिनाए थे उनमेंसे क्लेशघ्नत्व-रूप प्रथम गुण की व्याख्या यहाँ तक समाप्त हो गई। अब अगली कारिकामें शुभदत्व रूप दूसरे गुणका विवेचन आरम्भ करते है। क्लेशके जैसे तीन रूप दिखलाए थे इसी प्रकार अगली कारिकामें शुभके चार रूप दिखलाए हैं। १. सब जगत्का प्रीणन या सब जगत्को सुखी, सन्तुष्ट बनाना; २ सारे जगत्का अनुराग प्राप्त करना; ३. सद्गुणोंकी प्राप्ति तथा ४. सुख ये चार प्रकार के शुभ माने गए हैं। भक्ति इन चारों प्रकारके शुभोंको प्रदान करने वाली है इसका प्रति-पादन आगे भागवत तथा पद्मपुराण के प्रमाणोंके द्वारा करेंगे। पहले इस कारिकामें शुभके रूपोंका प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं—

१. समस्त जगत्को [अर्थात् जगत्के समस्त प्राणियोंको] सन्तुष्ट करना [प्रीणन] २. [समस्त जगत्की अपने प्रति अनुरक्तता अर्थात् जगत्के समस्त प्राणियोंका] अनुराग प्राप्त करना. ३. [दया-दाक्षिण्य आदि] सद्गुण और ४ सुख इत्यादिको विद्वानोंने शुभ [नाम से] कहा है। १६।

तत्र [illegible] प्रन्त्वं यथा पाद्मे

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि ।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जंगमाः स्थावरा अपि ॥ १० ॥

सद्गुणादिप्रदत्वं यथा पंचमे—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥ ११ ॥

सुखप्रदत्वम्—

सुखं वैषयिकं ब्राह्ममैश्वरं चेति तत्त्रिधा ।

यथा तन्त्रे—

सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती ।
नित्यं च परमानन्दो भवेद् गोविन्दभक्तितः ॥ १२ ॥

उनमेंसे जगत्के प्रीणन आदि दो [अर्थात् जगत्को सन्तुष्ट करना और जगत्की अनुरक्तताको प्राप्त करना इन दोनोंकी सिद्धि भक्तिके द्वारा हो सकती है । भक्ति इन दो] को प्रदान करने वाली है । यह बात पद्मपुराण [के निम्न श्लोक] में [कही गई है]—

जिसने भगवान्को [अपनी अर्चना द्वारा] सन्तुष्ट कर लिया [यह समझ लो कि] उसने सारे जगत् [के प्राणियों] को तृप्त कर लिया । उसके प्रति जगत्के समस्त प्राणी और स्थावर भी अनुरक्त हो जाते हैं [उससे प्रेम करने लगते हैं] । १० ।

[भक्ति] सद्गुण आदिको प्रदान करने वाली है यह बात [भागवतके] पंचम [स्कन्ध] में [कही गई है] जैसे—

जिसकी भगवान्के प्रति निःस्वार्थ [निष्काम] भक्ति है उसमें समस्त [सद्] गुणोंके साथ देवताओंका निवास होता है । जो परमात्माका भक्त नहीं है और जिसका मन सदा बाह्य विषयोंमें घूमता रहता है उस [भक्ति-विहीन पुरुष] में महान् गुण कहाँसे आ सकते हैं । ११ ।

भक्तिका सुखप्रदत्व गुण—

भक्तिके शुभदत्व गुणका विवेचन करते हुए शुभके चार भेद किए थे । इनमेंसे तीन का विवेचन ऊपर किया जा चुका है । अब चौथे भेद सुखप्रदत्वका विवेचन अगली कारिकामें करते हैं । इसमें सुखके १. वैषयिक सुख, २. ब्रह्म-सुख और ३. ऐश्वर्य-सुख ये तीन भेद किए है । ये तीनों प्रकारके सुख ईश्वर-भक्तिसे प्राप्त हो सकते है इस बातका समर्थन तन्त्र तथा हरिभक्तिसुधोदयके दो प्रमाणों द्वारा अगली पंक्तिमें करेंगे । पहले १८ वीं कारिकाके पूर्वार्द्धमें सुखके तीन भेद दिखलाते हैं—

सुख १. वैषयिक, २. ब्राह्म और ३. ऐश्वर्य भेदसे तीन प्रकारका होता है ।

जैसा कि तन्त्रमें [भक्तिके द्वारा उक्त तीनों प्रकारके सुखोंकी प्राप्तिका वर्णन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

परम आश्चर्यजनक [अणिमा आदि रूप] सिद्धि, भुक्ति [अर्थात् वैषयिक सुख] और मुक्ति [अर्थात् ब्राह्म सुख] तथा नित्य परमानन्द [अर्थात् ऐश्वर्य-सुख ये चारों] भगवान्की भक्तिसे [ ] प्राप्त होते है । १२

यथा हरिभक्तिसुधोदये च—

भूयोऽपि याचे देवेश ! त्वयि भक्तिर्दृढाऽस्तु मे ।
या मोक्षान्तचतुर्वर्गफलदा सुखदा लता ॥ १३ ॥ इति

मोक्षलघुताकृत्—

मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ ॥ १७ ॥
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः ॥

यथा नारदपञ्चरात्रे—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः ।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः ॥ १४ ॥ इति

सुदुर्लभा—

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि ॥ १८ ॥
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात्सुदुर्लभा ॥

और जैसे 'हरिभक्तिसुधोदय' में [कहा है]—

हे देवेश ! मैं आपसे फिर भी याचना करता हूँ कि आपमें मेरी दृढ़ भक्ति हो। जो कि मोक्ष-पर्यन्त चारों पुरुषार्थ रूप फलको देने वाली सुखप्रद लता है। १३।

३. मोक्षलघुताकृत्व—

१३वीं कारिकामें कहे हुए भक्तिके छः गुणोंमेंसे क्लेश-नाशन और शुभदत्व रूप दो गुणोंका विवेचन हो गया। अब आगे मोक्षलघुताकृत्व रूप तृतीय गुणका प्रतिपादन करते हैं।

हृदयमें भगवान्‌का तनिक-सा भी प्रेम उत्पन्न होते ही [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] चारों पुरुषार्थ तृणके समान [अत्यन्त तुच्छ] हो जाते हैं। [भक्तकी दृष्टिमें उनका कोई महत्व नहीं रहता है]। १७।

जैसा कि नारदपञ्चरात्र [के निम्न श्लोक] में [कहा गया है]—

मुक्ति आदि सारी सिद्धियाँ और नाना प्रकारकी [अद्भुत] भुक्तियाँ [अर्थात् संसारके सारे भोग] दासियोंके समान उस भगवद्भक्ति रूप महारानीके पीछे-पीछे चलती हैं। १४।

इस श्लोकमें भगवद्-भक्तिको महादेवी और मुक्ति आदि सब सिद्धियोंको उनकी चेटी या दासी कहा है। इससे भक्ति मोक्षसे भी कहीं अधिक उत्तम है यह बात सिद्ध होती है। इसी लिए ग्रन्थकार ने मोक्षलघुताकृत्वके समर्थनमें इस प्रमाणको उद्धृत किया है।

४. भक्तिका सुदुर्लभत्व—

तेरहवीं कारिकामें भक्तिका चौथा गुण उसका सुदुर्लभत्व बतलाया था। इस [illegible] कारिकामें उसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकारने दो प्रकारसे उसके दुर्लभत्वका उपपादन किया है। एक तो यह कि यदि भक्तिरहित किन्हीं साधनोंका अवलम्बन किया जाये तो वह चिरकाल तक भी प्राप्त नहीं हो सकती है। और यदि आसंग अर्थात् भगवान्‌के प्रति प्रारम्भिक सामान्य प्रेमके साथ उन साधनोंका अनुष्ठान किया जाय तो भी परमात्मा उसको उत्तम भक्ति शीघ्र प्रदान नहीं करते हैं। उसकी प्राप्तिमें पर्याप्त समय लगता है। इस प्रकार दोनों तरहसे वह अत्यन्त दुर्लभ है यह [illegible] अभिप्राय है इसी भावको अगली कारिकामें [illegible] है

तत्राद्या यथा तन्त्रे

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः ।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा ॥ १५ ॥

द्वितीया यथा पंचमस्कन्धे—

राजन् ! पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां—
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो वः ॥
अस्त्वेवमङ्ग ! भजतां भगवान्मुकुन्दो—
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ॥ १६ ॥ इति

सान्द्रानन्दविशेषात्मा—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ॥ १९ ॥
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ।

यथा हरिभक्तिसुधोदये—

त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे ।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो ! ॥ १७ ॥

तथा भावार्थदीपिकायां च—

त्वत्कथाऽमृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः ।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥ १८ ॥

आसंग [अर्थात् परमात्म-प्रेम] से रहित [योगादिके] साधन-समूहोंके द्वारा वह चिर-काल तक भी प्राप्त नहीं हो सकती है । और [आसंगयुक्त अर्थात् भगवत्प्रेम-सहित साधनों का अवलम्बन करनेपर भी] भगवान् उसको शीघ्र प्रदान नहीं करते हैं इसलिए दोनों प्रकारसे वह अत्यन्त दुर्लभ है । १८ ।

उनमेंसे पहली [साधनोंसे अलभ्य भक्ति] जैसे तन्त्रमें [कही है]—

ज्ञानके द्वारा मुक्तिका और यज्ञादि पुण्यकार्योंके द्वारा भोगोंका प्राप्त करना सहज है किन्तु यह हरि-भक्ति सहस्रों दूसरी [हरिणा आशु अदेया भक्ति] जैसे पञ्चम स्कन्धमें [कही है]—

हे राजन् ! यदुपति भले ही आपके गुरु हों, इष्ट हों, प्रिय कुलपति हों और अधिक क्या तुम्हारे नौकर भी हों; यह सब बात ठीक हो और आप भी भले ही उनकी सेवा करते रहें किन्तु भगवान् मुकुन्द मुक्ति तो किसी प्रकार दे भी देते पर भक्ति-योग तो नहीं देते हैं । १६ ।

भक्तिका सान्द्रानन्द स्वरूप—

यदि इस [मोक्ष-रूप] ब्रह्मानन्दको परार्द्ध गुणा [असंख्य गुणा] कर दिया जाय तो भी भक्ति-सुखके सागरके एक परमाणुकी बराबरी भी वह नहीं कर सकता है । १९ ।

जैसा कि हरिभक्तिसुधोदयमें [कहा गया है कि]—

हे जगद्गुरु भगवन् ! आपके साक्षात्कार-सुखके विमल सिन्धुमें स्थित मुझको सारे ब्राह्म सुख [अर्थात् मोक्ष-सुख] भी गौके खुरके समान [अत्यन्त क्षुद्र] दिखलाई देते हैं ।१७।

और जैसा कि पका'में भी कहा गया है कि]

आपके कथामृतके सागरमें विचरण करने वाले कोई पुण्यवान् महा

श्रीकृष्णाकर्षिणी

कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम् ॥२०॥
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता ॥

यथैकादशे—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ १९ ॥

सप्तमे च नारदोक्तौ—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥२०॥ इति

सौभाग्यशाली भक्तजन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] चतुर्वर्गको भी तृणके समान [तुच्छ] समझते हैं । १८ ।

भक्तिका भगवदाकर्षण—

तेरहवीं कारिकामें भक्तिके जो छः गुण बतलाए थे उनमेंसे पाँचकी व्याख्या यहाँ तक समाप्त हो गई । 'श्रीकृष्णाकर्षणी' इस छठे गुणकी विवेचना शेष रह गई है । इसको ग्रन्थकार अगली कारिकामें प्रस्तुत करते हैं ।

श्रीकृष्णाकर्षिणी [भक्तिका वर्णन]—

[भगवान्के] प्रियवर्ग सहित भगवान्को अपने प्रेमका पात्र बनाकर भक्ति [भगवान्को] अपने वशमें कर लेती है इसलिए [श्रीकृष्णाकर्षिणी] भगवान्को आकर्षित कर लेनेवाली कही गई है ॥२०॥

इस विशेषणमें 'श्री' तथा 'कृष्ण' दो शब्द आए हैं । उनमें 'श्री' शब्दसे 'प्रियवर्ग'का और 'कृष्ण' पदसे 'भगवान्'का ग्रहण करके ग्रन्थकारने इसी कारिकामें 'प्रियवर्गसमन्वितम्' और 'हरि' दोनों पदोंका प्रयोग किया है । भक्ति ही भगवान्को अपनी ओर आकृष्ट करनेका एकमात्र साधन है इस बातके समर्थनके लिए ग्रन्थकार आगे भागवतके ग्यारहवें तथा सातवें स्कन्धोंसे दो श्लोक उद्धृत करते हैं—

जैसाकि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [कहा है कि]

हे उद्धव ! [मां अर्थात्] भगवान्को न योग अथवा सांख्य [प्रतिपादित] धर्म, [उस प्रकार आकर्षित कर सकते हैं] और न स्वाध्याय या तप और त्याग उतना आकर्षित कर सकते हैं जितना कि भगवान्की प्रबल भक्ति [मम भक्तिः] उनको आकर्षित कर सकती है । १९ ।

और सप्तम [स्कन्ध] में भी नारदकी उक्तिमें [कहा है कि]-

पृथिवीलोक पर आप लोग निश्चय ही बड़े सौभाग्यशाली हैं जिनके घरमें मनुष्य रूप धारण किए साक्षात् परब्रह्म [रूप कृष्ण] रहता है—ऐसा मानकर सारे लोकोंको पवित्र करने वाले मुनिगण [प्रेमपूर्वक] पधारते हैं । २० ।

त्रिधा भक्तिके साथ छः गुणोंका सम्बन्ध—

तेरहवीं कारिकामें भक्तिके जिन छः गुणोंका प्रतिपादन किया था उनकी अलग-अलग विशेष विवेचना भी यहाँ तक समाप्त हो गई अगली द्वितीय लहरीके प्रारम्भमें भक्तिके

अग्रतो वक्ष्यमाणायास्त्रिधा भक्तेरनुक्रमात् ॥२१॥
द्विशः षड्भिः पदैरेतन्माहात्म्यं परिकीर्तितम् ॥

किञ्च—

स्वल्पाऽपि रुचिरेव स्याद्भक्तितत्त्वावबोधिका ॥२२॥
युक्तिस्तु केवला नैव यदस्या अप्रतिष्ठता ॥

---

१ साधनभक्ति, २. भावभक्ति और ३. प्रेमभक्ति रूपके तीन भेद करेंगे। ऊपर कहे हुए छहों गुणोंका सम्बन्ध इन तीनों प्रकारकी भक्तिसे है। प्रथम साधन-रूपा भक्तिमें केवल क्लेशघ्नत्व और शुभदत्व रूप दो गुण रहते हैं। दूसरी भावरूपा भक्तिमें इन दो गुणोंके अतिरिक्त मोक्षलघुताकृत्व तथा सुदुर्लभता ये दो गुण और बढ़ जाते हैं। अर्थात् इनमें दोके स्थानपर चार गुण हो जाते हैं। इसके बाद तीसरे प्रकारकी प्रेमरूपा भक्तिमें इन चारके अतिरिक्त सान्द्रानन्दविशेषत्व तथा श्रीकृष्णाकर्षणत्व रूप दोनों गुणोंका और समावेश होकर उसमें छः गुण हो जाते हैं। इस प्रकार दो-दो गुणोंकी वृद्धि द्वारा उक्त तीन प्रकारकी भक्ति मे इन छः गुणोंका समावेश हो जाता है। वैशेषिक आदिमे जिस प्रकार आकाशमे केवल एक शब्द गुण माना गया है। उसके बाद उससे उत्पन्न वायुमें शब्द और स्पर्श दो गुण, अग्नि में शब्द स्पर्श और रूप तीन गुण, जलमें शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस चार गुण, और पृथिवी मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध पांच गुण माने गए हैं। उनमें क्रमशः एक-एक गुणकी वृद्धि होती जाती है। इसी प्रकार यहाँ त्रिविध भक्तिमें उत्तरोत्तर दो-दो गुणों की वृद्धि होती जाती है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार लिखते हैं—

आगे [द्वितीय लहरीके आरम्भमें] कही जाने वाली तीन प्रकारकी भक्तिका क्रमशः दो-दो पदों [की वृद्धि करते हुए] छः पदोंसे यह माहात्म्य कहा गया है ॥ २१ ॥

इस प्रकार साधनरूपा भक्तिमें दो गुण, भावरूपा भक्तिमे चार गुण और प्रेमरूपा भक्तिमें छहों गुण होते हैं ॥२१॥

भक्तिकी उत्पत्तिका कारण रुचि—

इस प्रकार भक्तिका सामान्य विवेचन करनेके बाद ग्रन्थकार भक्तिकी उत्पत्तिका कारण अगली कारिकामें दिखलाते हैं। उनके मतमें युक्ति या तर्कसे भक्तिका उदय नही होता है, अपितु हृदयमे अव्यक्त रूपसे रहनेवाली रुचिसे ही इसका उदय होता है। इसीको अगली कारिकामें इस प्रकार लिखते हैं—

और—

[मूल रूपसे हृदयमें विद्यमान] थोड़ी-सी भी रुचि ही भक्तितत्त्वको अभिव्यक्त करने वाली होती है। केवल युक्ति [अर्थात् केवल शुष्क तर्क भक्तिका उद्बोधक] नहीं होती है क्योंकि ['तर्काप्रतिष्ठानात्' आदि सूत्रों द्वारा] उसको अप्रतिष्ठित [कहीं भी न जम सकनेवाला] कहा है २२।

तथा प्राचीनैरप्युक्तम्

यत्नेनापादितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥२१॥

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे सामान्यभक्तिलहरी प्रथमा ॥१॥

अथ द्वितीया साधनभक्तिलहरी

सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता ।

यह बात [वार्तिककार आदि] प्राचीन आचार्योंने भी कही है

अत्यन्त चतुर तार्किकों [अनुमातृभिः] के द्वारा प्रयत्नपूर्वक सिद्ध किये हुए अर्थको उनकी अपेक्षा और अधिक प्रबल तार्किक [अभियुक्ततर अपने तर्कके बलसे काटकर] और प्रकारसे सिद्ध कर देते है ॥ २१ ॥

अर्थात् एक विद्वान् तर्क द्वारा जिस बातको सिद्ध करता है उससे बड़ा दूसरा तार्किक विद्वान् उसका खण्डन करके उस बातको दूसरी तरह सिद्ध कर देता है। इसीलिए तर्क कहीं जम नहीं सकता है। यही बात वेदान्तमें 'तर्काप्रतिष्ठानात्' आदि सूत्र से कही है। इसलिए तर्कके आधारपर भक्तिका उद्बोधन सम्भव नहीं है। हृदयमें पहलेसे विद्यमान [illegible] ही भक्तिका उद्बोधन करने वाली होती है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' के पूर्वविभागमें भक्तिसामान्यनिरूपण रूप
प्रथम लहरी समाप्त हुई।

अथ द्वितीया साधनभक्तिलहरी

पूर्वविभागकी विगत प्रथम लहरीमें ग्रन्थकारने भक्तिका सामान्य रूपसे निरूपण किया था इसलिए उस लहरीका 'सामान्य भक्तिलहरी' यह नामकरण किया गया था। अब इस द्वितीय लहरीके आरम्भमें १ साधनभक्ति, २ भावभक्ति और ३ प्रेमभक्ति रूप भक्तिके तीन भेद करके उनमेसे साधनरूपा भक्तिका इस लहरीमें विशेष रूपसे विवेचन करेंगे, इसलिए इस लहरीका नाम 'साधनभक्तिलहरी' रखा गया है। यहाँ यद्यपि आपाततः भक्तिके तीन भेद दिखलाए है किन्तु मुख्य रूपसे भक्तिके दो ही भेद होते हैं। एक 'साधनरूपा भक्ति' और दूसरी 'साध्यरूपा भक्ति'। 'साधनरूपा भक्ति' का विशेष विवेचन तो ग्रन्थकार इस लहरीमे ही कर रहें है। दूसरे प्रकारकी भक्ति 'हार्दरूपा' हृदयनिष्ठ भक्ति मानी गई है। भावरूपा तथा प्रेमरूपा दोनो प्रकारकी भक्तियाँ इस 'हार्दरूपा' भक्तिके अन्तर्गत ही आती है। इस 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के परिशिष्ट रूप 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थमें 'हार्दरूपा' भक्तिके अन्तर्गत १ भाव, २ प्रेम, ३ प्रणय, ४ स्नेह, ५ राग, ६ अनुराग, और ८ महाभाव ये आठ प्रकारके भेद माने गए हैं। यहाँ उनमेंसे केवल भाव तथा प्रेमका ही वर्णन किया गया है। इनको अन्योंका भी उपलक्षण रूप समझना चाहिए, ऐसा दुर्गमसंगमनीकारका मत है। सम्प्रति ग्रन्थकार भक्तिको आपाततः तीन भागोंमे विभक्त कर साधनभक्तिका विवेचन करने जा रहे है। इसलिए पहिले भक्तिके तीन भेद करते हुए लिखते है

वह [सामान्य रूपसे पहिले प्रतिपादन की हुई] भक्ति १ साधनरूपा, २ भावरूपा और ३ प्रेमरूपा [इन भेदोंसे] तीन प्रकारकी कही गई है

तत्र साधनभक्ति

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा । १
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ।
सा भक्तिः सप्तमस्कन्धे भङ्ग्या देवर्षिणोदिता ॥२॥

यथा—

तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेदिति ॥ २२ ॥

उनमेंसे साधनभक्ति [का लक्षण निम्न प्रकार है]—

[जो साधक भक्तके] व्यापारसे सिद्ध हो सकने वाली हो और जिसके द्वारा भावरूप [भक्ति] की सिद्धि हो सकती हो [साध्यभावा], वह साधनभक्ति नामसे कही जाती है ॥१॥

साधनरूपा भक्तिकी यहाँ दो विशेषताएं बतलाई है एक तो यह कि वह स्वय कृतिसाध्या होती है और दूसरी यह कि उसके द्वारा 'भावरूपा' भक्तिकी सिद्धि होती है। जिन कृतियों या व्यापारोंसे साधनभक्तिकी सिद्धि होती है वे सब पूर्वकृतियाँ भी उस भक्ति ही अन्तर्गत समझी जाती है। जैसे कर्मकाण्डमे मुख्य यज्ञके आरम्भ होनेसे पूर्व यज्ञकी तैयारी आदिके लिए की जाने वाली क्रियाएं भी यज्ञ-प्रक्रियाके अंगरूपमे ही मानी जाती है, इसी प्रकार साधन-भक्तिकी सिद्धिके लिए की जाने वाली पूर्व-कृतियाँ भी उस भक्तिका ही अंग मानी जाती हैं। भक्तिके प्रति रुचिके हुए बिना उन व्यापारोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती है। इसलिए भी वे प्रारम्भिक कृतियाँ भक्तिके ही अन्तर्गत मानी गई है।

इस साधनभक्तिकी दूसरी विशेषता 'साध्यभावा' विशेषणके द्वारा प्रकट की गई है। इसका विग्रह 'साध्यः भावः प्रेमादिरूपो यया सा साध्यभावा' इस प्रकार किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसके द्वारा भावभक्ति अर्थात् प्रेमादि भक्तिकी सिद्धि हो वह 'साध्यभावा' कहलाती है। 'साधनरूपा' भक्तिके द्वारा ही भावरूपा, प्रेमादिरूपा भक्तिकी सिद्धि होती है इसलिए 'साध्यभावा' यह उसका विशेषण दिया गया है।

भावकी नित्यसिद्धता—

जिन सौभाग्यशाली व्यक्तियोंके मनमें भक्तिका उद्बोध होता है उनके हृदयमें भक्ति का बीज सूक्ष्म रूपमें पहलेसे ही विद्यमान रहता है। साधनोंके प्रयोगसे उस पूर्वसिद्ध भावकी अभिव्यक्तिमात्र होती है, उत्पत्ति नहीं। इसलिए 'साध्यभावा' पदमे 'साध्य' पदसे उस अभिव्यक्तिका ही ग्रहण करना चाहिए। इस बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामे निम्न प्रकार से लिखते हैं—

हृदयमें नित्यसिद्ध [अर्थात् पहलेसे ही बीज रूपमें विद्यमान प्रेमादिरूप] भावका प्राकट्य [अर्थात् साधनों द्वारा होनेवाली अभिव्यक्ति ही यहाँ 'साध्यभावा' पदमें] साध्यता [रूपसे अभिप्रेत] है। उस [साधनरूपा] भक्तिको [भागवतके] सप्तम स्कन्धमें देवर्षि [नारद] ने प्रकारान्तर [भंग्या] से दिखलाया है ॥ २ ॥

जैसाकि [वहाँ सप्तम स्कन्धमें निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है कि]—

इसलिए किसी [न किसी] उपायसे [अर्थात् किन्हीं उचित साधनोंके द्वारा] मनको भगवान् [कृष्णके ध्यानमें] में लगाना चाहिए २२

वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा ।

तत्र वैधी

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ॥ ३ ॥

शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ।

यथा द्वितीये—

तस्माद् भारत ! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥ २३ ॥

पाद्मे च—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातु चित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥ २४ ॥

इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु ॥ ४ ॥

नित्यत्वेऽप्यस्य निर्णीतमेकादश्यादिवत्फलम् ॥

भागवतके इस वचनमें जिन किन्हीं उपायोंसे मनको भगवान्के [illegible] का सकेत यहाँ किया गया है वे साधन ही यहाँ साधनभक्ति नामसे कहे गए हैं । [illegible] अभिप्राय है । इसीलिए ग्रन्थकारने यहाँ 'भाव्या देवर्षिणोदिता' कहा है । '[illegible] कहा' इसका अभिप्राय है कि साक्षात् रूपसे नहीं कहा है ।

साधनभक्तिके दो भेद—

वह साधनभक्ति १ वैधी और २ रागानुगा [भेदोंसे] दो प्रकारकी होती है ।

इनमें साधनभक्तिके दो भेद किए गए है । जिसमें स्वतः राग न हो केवल शास्त्रीय विधि वाक्यों या निर्देशोंके आधार पर मनुष्य प्रवृत्त हो, उसका नाम 'वैधी भक्ति' है । इसी अभिप्रायसे ग्रन्थकार अगली कारिकामें 'वैधी भक्ति'का लक्षण करते हुए लिखते हैं कि

उनमेंसे वैधी भक्ति [का लक्षण निम्न प्रकार किया जा सकता है]—

जिसमें [स्वाभाविक] रागके न होनेसे केवल शास्त्रकी आज्ञाके बलसे ही [मनुष्यकी] प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वह वैधी [भक्ति] कहलाती है ॥ ३ ॥

जैसाकि [श्रीमद्भागवतके] द्वितीय [स्कन्ध] में [कहा है]—

हे भारत ! [राजन्] इसलिए अभय चाहने वाले [प्रत्येक व्यक्ति] को सबके आत्म-भूत दुःखोंका हरण करने वाले [हरिः] और सर्वशक्तिमान [ईश्वर] भगवान्का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए ॥ २३ ॥

और पद्मपुराण में भी [कहा है कि]

[विष्णु] भगवान्का स्मरण सदैव करना चाहिए और कभी भी [उनको] भूलना नहीं चाहिए । [अन्य कर्मकाण्ड सम्बन्धी] सारे विधि-निषेध इन्हीं दोनों [अर्थात् भगवान्के सदा स्मरण तथा कभी भी विस्मरण न करने] के सेवक है । [अर्थात् भगवान्का सदा स्मरण और कभी विस्मरण न करना ये दो ही सहज कर्तव्य हैं । शेष सारे धर्म-कर्म इनके सामने गौण है] ॥ २४ ॥

वैधी भक्तिकी नित्यता—

यह [विधि अर्थात्] वैधी भक्ति सारे वर्णों और आश्रमोंमें नित्य [विधि] समझनी चाहिए [अर्थात् **ईश्वरानुराग न होने पर भी नित्यिक सन्ध्योपासनादि रूपसे**

एकादशे तु व्यक्तमेवोक्तम्

> मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
> चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ २५ ॥
> य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
> न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ २६ ॥

भगवान्का ध्यान प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रमके प्रत्येक व्यक्तिको करना ही चाहिए] नित्य [कर्म] होने पर भी एकादशी व्रत आदिके समान उसके फलका [निर्णय अर्थात्] विधान किया गया है । ४ ।

कर्मकाण्डके प्रसगमें १ नित्य, २. नैमित्तिक, ३. काम्य ४. निषिद्ध इन चार प्रकारके कर्मोंका विधान किया गया है । विशेष निमित्त के उपस्थित होने पर किए जाने वाले जातकर्म आदि संस्कार 'नैमित्तिक' कर्म कहलाते है । किसी फल-विशेषकी प्राप्तिकी कामनासे किए जाने वाले 'पुत्रेष्टि' 'कारीरी' [वर्षेष्टि] आदि याग 'काम्य'-कर्म कहे जाते है । प्राणिवध आदि वेदो द्वारा प्रतिषिद्ध कर्म, 'निषिद्ध' कर्म कहलाते है । इन तीनोंसे भिन्न चौथे प्रकारके कर्म 'नित्य-कर्म' कहलाते है । नित्य-कर्मका लक्षण 'अकरणे प्रत्यवाय-साधनानि नित्यानि' यह किया गया है । इसका अर्थ यह है कि जिनके करनेका कोई विशेष फल नही होता है किन्तु न करने पर पाप उत्पन्न होता है, उनको नित्य-कर्म कहते है । जैसे संध्या-वन्दनादि । उनके करनेसे कोई विशेष धर्म उत्पन्न नहीं होता है किन्तु उनके न करने पर पाप उत्पन्न होता है । इसलिए इनकी गणना नित्य-कर्मोंमें की जाती है । इसी प्रकार वैधी भक्ति भी 'नित्य कर्म' है । साधारणतः नित्य-कर्मका कोई फल नही होता है इसलिए वैधी भक्तिका कोई फल नहीं होना चाहिए । फिर भी शास्त्रमें उसके फलका निर्देश किया गया है । इसका समाधान ग्रन्थकारने इस कारिकामे किया है । उनके कहनेका अभिप्राय यह है कि एकादशीव्रतके नित्य-कर्म होने पर भी जैसे उसके फलका वर्णन पाया जाता है इसी प्रकार वैधी-भक्ति यद्यपि नित्य-कर्म है फिर भी गौण रूपसे प्रशंसार्थ उसके फलका वर्णन किया गया है ।

वैधी भक्तिकी इसी नित्यताको सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थकार श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धसे दो श्लोक आगे उद्धृत करते हैं---

एकादश [स्कन्ध] में तो स्पष्ट रूपसे ही कहा है कि—

[विराट्] पुरुषके मुख, बाहु, उरू और पादोंसे [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि] आश्रमोंके साथ [पुरुषके] गुणोंसे ब्राह्मण आदि चारों वर्ण अलग-अलग उत्पन्न हुए ॥ २५ ॥

इनमेंसे जो [अपने] कारण-रूप ईश्वर [पुरुष] का भजन नहीं करते हैं अपितु उसका तिरस्कार करते हैं वे [अपने उच्च] स्थानसे भ्रष्ट होकर नीचे [अर्थात् पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें] गिर जाते है ॥ २६ ॥

इन श्लोकोंमें ईश्वर-भक्तिको सभी वर्ण और सभी आश्रमोंके लोगोंके लिए अपरिहार्य नित्य-कर्म बतलाया गया है । इसीलिए ग्रन्थकारने 'इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु' अपने इस वचनके समर्थनके रूपमें इन सब श्लोकोंको उद्धृत किया है ।

नित्यत्वेऽप्यस्य निर्णीतमेकादश्यादिवत् फलम् इस कारिका भागमे जो वैधी भक्ति रूप नित्य कर्मके फलके विधानकी चर्चा की गई है उसके समर्थनके लिए ग्रन्थकारने आगे

तत्फलं च तत्रैव

> इत्थं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः ।
> अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥ २७ ॥

पञ्चरात्रे च—

> सुरर्षे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया ।
> सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेत् ॥ २८ ॥ इति

तत्राधिकारी—

> **यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने ॥ ५ ॥**
> **नातिसक्तो न वैराग्यभागस्यामधिकार्य्यसौ ॥**

यथैकादशे—

> यदृच्छया मत्कथाऽऽदौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
> न निर्व्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ २९ ॥

भागवतके एकादश स्कन्ध तथा नारदपञ्चरात्रसे दो श्लोक आगे उद्धृत किए हैं । उनका अर्थ निम्न प्रकार है—

और उस [नित्य वैधी भक्ति] का फल वहीं हो [अर्थात् ग्यारहवें स्कन्धमें] ही इस प्रकार कहा गया है]—

इस प्रकार वेदों और तन्त्रोंमें प्रतिपादित क्रियायोगके मार्गोंसे [भगवान्‌की] अर्चना करता हुआ पुरुष, परमात्मासे [मत्तः] दोनों प्रकारसे [अर्थात् वैदिक तथा तान्त्रिक दोनों प्रकारके उपायों द्वारा] अभीष्ट सिद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

और पञ्चरात्रमें भी [वैधी भक्तिके फलका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया है]।

हे देवर्षि नारद ! शास्त्रमें भगवान् [की आराधना] के उद्देश्यसे जो [साधन-भूत] क्रिया बतलाई गई है उसीको भक्ति [अर्थात् साधन-भक्ति] कहते हैं । उससे अगली [या उत्कृष्टतर साध्य-रूपा] भक्ति प्राप्त होती है ॥ २८ ॥

वैधी भक्तिके अधिकारी—

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकार ने साधन-भक्तिके एक भेद वैधी भक्तिका निरूपण किया । अब अगली कारिकामें वे साधन-भक्तिके अधिकारियोंका प्रतिपादन करेंगे । उन्होंने अधिकारियोंके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकारके भेद किए हैं । किन्तु भेदोंमें पड़नेके पूर्व वे पहले अधिकारीका सामान्य लक्षण बतलाते हैं ।

उस [वैधी भक्ति] में अधिकारी [कौन हो सकता है इस बातको आगे कहते हैं] -

[महापुरुषोंके सत्संगादिके संस्कार विशेष रूप] किसी अत्यन्त सौभाग्यसे इस [परमात्मा] के सेवनमें जिसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, न अत्यन्त आसक्तियुक्त और न वैराग्ययुक्त वही [पुरुष] इस [वैधी भक्ति] का अधिकारी है । ५ ।

अधिकारीके इस लक्षणके समर्थनके लिए ग्रन्थकार श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धसे निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं ।

जैसा कि [श्रीमद्भागवतके] एकादश [स्कन्ध] में [कहा है कि]—

न अत्यन्त आसक्त और न अत्यन्त विरक्त जिस पुरुषको स्वयं ही किसी अनिर्वचनीय

उत्तमो मध्यमश्च स्यात्कनिष्ठश्चेति स त्रिधा ॥ ६ ॥

तत्रोत्तमः—

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्व्वथा दृढनिश्चयः ।
प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः ॥ ७ ॥

मध्यमः

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान्स तु मध्यमः ॥

कनिष्ठः—

कारणसे 'मत्कथादौ' अर्थात् [भगवान्‌की आदिकी कथा-आदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है उसको ही भक्तियोग सिद्धि प्रदान करने वाला होता है। [अर्थात् वही पुरुष भक्तियोगका अधिकारी होता है] । २६ ।

अधिकारीके इन दोनो लक्षणोंमें 'नातिसक्तः' और 'न वैराग्यभाक्' ये दो विशेषण दिए है। इनका अभिप्राय ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग दोनोसे भक्तिमार्गकी भिन्नता दिखलाना है। ज्ञानमार्गके अधिकारीके लिए वैराग्यकी अत्यन्त अपेक्षा है। वेदान्त ग्रन्थोंमे अधिकारीके अनेक विशेषणोंमें 'साधनचतुष्टयसम्पन्न' यह भी एक आवश्यक विशेषण माना जाता है। उस साधनचतुष्टयमे १. नित्यानित्य-वस्तुविवेकः, २. इहामुत्रफलभोगविराग, ३. षट्कसम्पत्ति और मुमुक्षुत्वका समावेश होता है। इनमे वैराग्यकी आवश्यकता अपरिहार्य मानी गई है। योगादि ज्ञानमार्गके मानने वाले सभी ग्रन्थोंमें वैराग्यको अधिकारीका आवश्यक विशेषण माना गया है। किन्तु भक्तिमार्गमें अधिक वैराग्यकी आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए उनमे भिन्नता दिखलानेके लिए यहाँ भक्तिमार्गके अधिकारीमे 'न वैराग्यभाक्' यह विशेषण दिया गया है। इसी प्रकार कर्ममार्गके अनुयायीके लिए कर्मकाण्डमें अत्यासक्तिकी अपेक्षा है। भक्ति-मार्गमें उससे भिन्नता दिखलानेके लिए ही यहाँ दूसरा 'नातिसक्तः' विशेषण दिया गया है।

अधिकारीके तीन भेद—

ग्रन्थकारने यहाँ वैधी भक्तिके अधिकारीके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन भेद किए है। उन भेदो तथा उनके लक्षणोंको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार दिखलाते है--

वह [वैधी भक्तिका अधिकारी] उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेद से तीन प्रकारका होता है ॥ ६ ॥

उनमेंसे उत्तम [अधिकारीका लक्षण यह है कि]—

शास्त्र और [तदनुकूल] तर्कमें निपुण, निश्चय [किए हुए अर्थ पर] पर सर्वथा दृढ रहने वाला तथा प्रौढ श्रद्धा वाला जो अधिकारी होता है वह भक्ति [मार्ग] में उत्तम [अधिकारी] माना जाता है। ७।

मध्यम [अधिकारीका लक्षण निम्न प्रकार है]—

जो शास्त्रादि [अर्थात् शास्त्र और युक्ति] में निपुण न होने पर भी श्रद्धावान् है वह तो मध्यम [अधिकारी माना जाता] है।

कनिष्ठ लक्षण निम्न प्रकार है

तत्फल च तत्रैव

एवं क्रियायोगपथैः पुमान वैदिकतान्त्रिकैः ।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥ २७ ॥

पञ्चरात्रे च—

सुरर्षे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया ।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेत् ॥ २८ ॥ [illegible]

तत्राधिकारी—

यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने ॥ ५ ॥

नातिसक्तो न वैराग्यभागस्यामधिकार्य्यसौ ॥

यथैकादशे—

यदृच्छया मत्कथाऽऽदौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ २९ ॥

भागवतके एकादश स्कन्ध तथा नारदपञ्चरात्रसे दो श्लोक आगे उद्धृत किए हैं। उनका अर्थ निम्न प्रकार है—

और उस [नित्य वैधी भक्ति] का फल वहाँ ही [अर्थात् ग्यारहवें स्कन्धमें] ही इस प्रकार कहा गया है]—

इस प्रकार वेदों और तन्त्रोंमें प्रतिपादित क्रियायोगके मार्गोंसे [भगवान्‌की] अर्चना करता हुआ पुरुष, परमात्मासे [मत्त.] दोनों प्रकारसे [अर्थात् वैदिक तथा तान्त्रिक दोनों प्रकारके उपायों द्वारा] अभीष्ट सिद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

और पञ्चरात्रमें भी [वैधी भक्तिके फलका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया है]।

हे देवर्षि नारद ! शास्त्रमें भगवान् [की आराधना] के उद्देश्यसे जो [साधन-भूत] क्रिया बतलाई गई है उसीको भक्ति [अर्थात् साधन-भक्ति] कहते हैं। उससे अगली [या उत्कृष्टतर साध्य-रूपा] भक्ति प्राप्त होती है ॥ २८ ॥

वैधी भक्तिके अधिकारी—

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकार ने साधन-भक्तिके एक भेद वैधी भक्तिका निरूपण किया। अब अगली कारिकामें वे साधन-भक्तिके अधिकारियोंका प्रतिपादन करेंगे। उन्होंने अधिकारियोंके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकारके भेद किए हैं। किन्तु भेदोंके करनेके पूर्व वे पहले अधिकारीका सामान्य लक्षण बतलाते हैं।

उस [वैधी भक्ति] में अधिकारी [कौन हो सकता है इस बातको आगे कहते हैं]—

[महापुरुषोंके सत्संगादिके संस्कार विशेष रूप] किसी अत्यन्त सौभाग्यसे इस [परमात्मा] के सेवनमें जिसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, न अत्यन्त आसक्तियुक्त और न वैराग्ययुक्त वही [पुरुष] इस [वैधी भक्ति] का अधिकारी है। ५।

अधिकारीके इस लक्षणके समर्थनके लिए ग्रन्थकार श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं।

जैसा कि [श्रीमद्भागवतके] एकादश [स्कन्ध] में [कहा है कि]—

न अत्यन्त आसक्त और न अत्यन्त विरक्त जिस पुरुषको स्वयं ही [किसी अनिर्वचनीय

उत्तमो मध्यमश्च स्यात्कनिष्ठश्चेति स त्रिधा ॥ ६ ॥

तत्रोत्तमः—

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्व्वथा दृढनिश्चयः ।
प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः ॥ ७ ॥

मध्यमः

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान्स तु मध्यमः ॥

कनिष्ठः—

कारणसे 'मत्कथादौ' अर्थात्] भगवान्की आदिकी कथा-आदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है उसको ही भक्तियोग सिद्धि प्रदान करने वाला होता है। [अर्थात् वही पुरुष भक्तियोगका अधिकारी होता है] । २९ ।

अधिकारीके इन दोनो लक्षणोंमें 'नातिसक्तः' और 'न वैराग्यभाक्' ये दो विशेषण दिए हैं। इनका अभिप्राय ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग दोनोसे भक्तिमार्गकी भिन्नता दिखलाना है। ज्ञानमार्गके अधिकारीके लिए वैराग्यकी अत्यन्त अपेक्षा है। वेदान्त ग्रन्थोंमें अधिकारीके अनेक विशेषणोंमें 'साधनचतुष्टयसम्पन्नः' यह भी एक आवश्यक विशेषण माना जाता है। इस साधनचतुष्टयमें १. नित्यानित्य-वस्तुविवेकः, २. इहामुत्रफलभोगविराग, ३. षट्कसम्पत्ति और मुमुक्षुत्वका समावेश होता है। इनमे वैराग्यकी आवश्यकता अपरिहार्य मानी गई है। योगादि ज्ञानमार्गके मानने वाले सभी ग्रन्थोंमें वैराग्यको अधिकारीका आवश्यक विशेषण माना गया है। किन्तु भक्तिमार्गमें अधिक वैराग्यकी आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए उनसे भिन्नता दिखलानेके लिए यहाँ भक्तिमार्गके अधिकारीमें 'न वैराग्यभाक्' यह विशेषण दिया गया है। इसी प्रकार कर्ममार्गके अनुयायीके लिए कर्मकाण्डमें अत्यासक्तिकी अपेक्षा है। भक्ति-मार्गमें उससे भिन्नता दिखलानेके लिए ही यहाँ दूसरा 'नातिसक्तः' विशेषण दिया गया है।

अधिकारीके तीन भेद—

ग्रन्थकारने यहाँ वैधी भक्तिके अधिकारीके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन भेद किए हैं। उन भेदों तथा उनके लक्षणोंको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार दिखलाते हैं—

वह [वैधी भक्तिका अधिकारी] उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेद से तीन प्रकारका होता है ॥ ६ ॥

उनमेंसे उत्तम [अधिकारीका लक्षण यह है कि]—

शास्त्र और [तदनुकूल] तर्कमें निपुण, निश्चय [किए हुए अर्थ पर] पर सर्वथा दृढ रहने वाला तथा प्रौढ श्रद्धा वाला जो अधिकारी होता है वह भक्ति [मार्ग] में उत्तम [अधिकारी] माना जाता है। ७ ।

मध्यम [अधिकारीका लक्षण निम्न प्रकार है]—

जो शास्त्रादि [अर्थात् शास्त्र और युक्ति] में निपुण न होने पर भी श्रद्धावान् है वह तो मध्यम [अधिकारी माना जाता] है।

कनिष्ठ लक्षण निम्न प्रकार है]

यो भवेत् कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते ॥ ८ ॥
तत्र गीतादिषूक्तानां चतुर्णामधिकारिणाम् ।
मध्ये यस्मिन् भगवतः कृपा स्यात्तत्प्रियस्य वा ॥९॥

[शास्त्रादिमें अनिपुण और] दुर्बल श्रद्धा वाला [अधिकारी] कनिष्ठ [अधिकारी] कहलाता है। ८।

इस प्रकार ग्रन्थकारने तीनों तरहके अधिकारियोंके लक्षण अलग-अलग दिखलाए है। इनमेंसे उत्तम अधिकारी शास्त्र और युक्तिमें निपुण होता है। अर्थात् वह जिस मार्गका अवलम्बन करता है उसे शास्त्र और युक्ति दोनोंसे भली प्रकार विचार कर निश्चय करता है। इसलिए दृढ़-निश्चय वाला भी होता है। कोई दूसरा व्यक्ति अपनी युक्तियों अथवा किन्हीं अन्य शास्त्र-प्रमाणोंसे भी उसको अपने मार्गसे विचलित नहीं कर सकता है। उसके शास्त्र एवं युक्तिमूलक सारे विचारके पीछे मूलभूत श्रद्धाका भाव रहता है। इसलिए शास्त्र एवं तर्कसे जब उस मूलभूत श्रद्धाकी सम्पुष्टि हो जाती है तो उसकी वह श्रद्धा और प्रौढ़ श्रद्धा बन जाती है। इस प्रकार उत्तम अधिकारीका लक्षण किया गया है।

मध्यम अधिकारी शास्त्रादिमें अनिपुण होता है किन्तु श्रद्धावान् होता है। यहाँ अनिपुण पदमें प्रयुक्त 'नञ्' अल्पार्थमें प्रयुक्त है। 'अनिपुणः' का अर्थ 'ईषन्निपुणः' कम निपुण है। अर्थात् सामान्य रूपसे तो शास्त्र तथा युक्तिके द्वारा भी विचार करनेमें समर्थ है किन्तु प्रबल बाधा उपस्थित होने पर उसके समाधानमें वह समर्थ नहीं होता है। फिर भी उसकी श्रद्धा विचलित नही होती है। अर्थात् श्रद्धाके विषयमें दृढ़ निश्चय ही होता है।

कनिष्ठ अधिकारीके लक्षणमे ग्रन्थकारने शास्त्र और युक्तिकी अनिपुणताकी कोई चर्चा नही की है किन्तु इसमें भी इन पदोंकी अनुवृत्ति पूर्व कारिकाओंसे लानी चाहिए। और यहाँ उस 'अनिपुणः' पदका अर्थ 'यत्किञ्चिन्निपुणः' साधारण-सा निपुण करना चाहिए। 'कोमलश्रद्धः' का अर्थ यह है कि थोड़े-से भी तर्कसे या अन्य शास्त्रोंके प्रमाणसे उसको अपने मार्गसे विचलित किया जा सकता है।

गीतामें कहे हुए अधिकारी—

यहाँ ग्रन्थकारने उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ भेदसे तीन प्रकारके अधिकारी बतलाए है। किन्तु—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥

इस गीता-वाक्यमें चार प्रकारके अधिकारियोंका उल्लेख किया गया है। उनका समन्वय करनेका मार्ग अगली कारिकामें दिखलाया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि ये सब अवस्थाएँ शुद्ध भक्तिसे पूर्वकी अवस्थाएँ हैं। वह वास्तविक भक्ति नहीं है। परमात्माकी कृपासे या किसी भगवद्भक्तकी कृपा और सत्संगसे जब उसके ये औपाधिक भाव समाप्त हो जाते हैं तब वह शुद्ध भक्तिका अधिकारी बनता है। और उस दशामें आने पर अधिकारीके उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ ये तीन ही भेद रह जाते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमे निम्न प्रकार लिखते है—

गीता आदिके वाक्योंमें कहे हुए [आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी] इन चार प्रकार

स क्षीणतत्तद्भावः स्याच्छुद्धभक्त्यधिकारवान् ।
यथेभः शौनकादिश्च ध्रुवः स च चतुःसनः ॥१०॥
भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमस्युदयो भवेत् ॥११॥
तत्रापि च विशेषेण गतिमण्वीमनिच्छतः ।
भक्तिर्हृतमनःप्राणान् प्रेम्णा तान् कुरुते जनान् ॥१२॥

तथा च तृतीये—

तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥२०॥ इति ।

के अधिकारियोंमेंसे जिसके ऊपर भगवान्‌की अथवा उनके [किसी] भक्तकी कृपा हो जाती है वह अपने उस-उस भावको [अर्थात् आर्त्तत्व आदि रूपको] छोड़कर शुद्ध भक्तिका अधिकारी हो जाता है। जैसे [आर्त्तभावसे मुक्त हुआ] गज, [जिज्ञासुभावसे मुक्त] शौनकादि, [अर्थार्थि-भावसे विमुक्त हुआ] ध्रुव तथा [ज्ञानीभावसे मुक्त हुए सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्-कुमार रूप] चतुःसन [शुद्ध भक्तिके अधिकारी बने]॥ ९-१० ॥

उक्त गीतावाक्यमें जो आर्त, जिज्ञासु आदि चार प्रकारके भक्त कहे गए हैं उन सबमें भुक्ति या मुक्तिकी स्पृहा विद्यमान रहती है। जब तक उसका नाश न हो तब तक भक्तिका उदय नहीं हो सकता है। इसलिए परमात्माकी कृपासे अथवा किसी भगवद्भक्तकी कृपासे जब उनके उस-उस औपाधिक भावका नाश हो जाता है तभी उनके हृदयमें शुद्ध भक्तिकी अधिकारिताका उदय होता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें इस प्रकार लिखते हैं कि—

भुक्ति [अर्थात् लौकिक भोग सुख] और मुक्ति [अर्थात् ब्राह्म सुख] के पानेकी इच्छा-रूप पिशाची जब तक [साधकके] हृदयमें विद्यमान रहती है तब तक उसमें [विशुद्ध] भक्तिके सुखका उदय हो ही कैसे सकता है॥ ११ ॥

और उनमेंसे भी विशेष रूपसे [मोक्ष रूप] सूक्ष्म गतिको न चाहनेवाले भक्तजनोंको मन और प्राणों [अर्थात् इन्द्रियों] को [श्रवणादि रूप] भक्ति, प्रेमके द्वारा हरण कर लेती अर्थात् अपने वशमें कर लेती है॥ १२ ॥

जैसा कि [श्रीमद्भागवतके] तृतीय [स्कन्ध में यही कहा है]—

सूक्ष्म गति [अर्थात् मोक्ष] को न चाहनेवाले जनोंको [श्रवणादिरूपा] भक्ति उन-उन दर्शनीय अवयवों, उदार विलासों, हास, ईक्षण तथा उन सुन्दर उक्तियों द्वारा हृतात्मा [अर्थात् जिनके आत्मा या मन हरण हो गया है] और हृतप्राण [अर्थात जिनकी इन्द्रियोंका हरण हो गया है इस प्रकारका] बना देती है। [अर्थात् भक्तिरसके आनन्दमें लीन होकर वे अपनी सब सुध-बुध भूल जाते हैं॥ २० ॥

इस प्रकार ग्रन्थकारने यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि भक्तिका सुख सब सुखोंसे बढ़कर है भक्तिसुखके आगे मुक्तिसुख भी हेय है

श्रीकृष्णचरणाम्भोजसेवानिर्वृतचेतसाम् ।
एषां मोक्षाय भक्तानां न कदापि स्पृहा भवेत् ॥२३॥

यथा तत्रैव श्रीमदुद्धवोक्तौ—

को न्वीश ! ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथाऽपि नाहं प्रवृणोमि भूमन् ! भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥३१॥

तत्रैव श्रीकपिलदेवोक्तौ —

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिद् मत्पादसेवाऽभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥३२॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥३३॥

चतुर्थे श्रीध्रुवोक्तौ—

आगे ग्रन्थकार भक्तिसुखके उत्कर्षातिशयके प्रतिपादनके लिए यह दिखलाते हैं कि जिनके मनमें एक बार भगवान्‌की भक्तिका भाव उदय हो जाता है और जो एक बार उसके रसका आस्वादन कर लेते हैं उनको फिर उसके आगे मोक्षसुख भी तुच्छ प्रतीत होता है। वे फिर मोक्षसुखकी कामना नहीं करते हैं।

भगवान [श्रीकृष्ण] के चरणकमलोंकी सेवाके [अर्थात् भक्ति] के सुखमें जिनका चित्त एक बार तृप्त हो गया है उन भक्तोंकी फिर मोक्षके लिए कभी भी इच्छा नहीं होती है ॥२३॥

अपने इस कथनके समर्थनके लिए ग्रन्थकार भिन्न स्थलोंसे लगभग १२ श्लोक प्रमाणके रूपमें उद्धृत करते है। उन सब श्लोकोंका भाव यही है कि भक्तिसुखका अनुभव कर लेने वाला फिर कभी मोक्षसुखकी कामना नहीं करता है।

जैसा कि वहीं [अर्थात् भागवतके तृतीय स्कन्धमें ही] उद्धवकी उक्तिमें [कहा है]—

हे प्रभो ! आपके चरण-कमलोंकी सेवा करने वालों [अर्थात् भगवद्भक्तों] को [धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष-रूप] चारों पुरुषार्थोंमेंसे कौनसा [पुरुषार्थ] दुर्लभ है [अर्थात् धर्म, अर्थ काम और मोक्ष सभी कुछ उनके लिए सहज सुलभ है] फिर भी हे सर्वशक्तिमान् ! आपके चरण-कमलोंकी सेवाके लिए उत्सुक मैं [आपसे मोक्ष आदिको] नहीं माँगता हूँ ॥ ३१ ॥

और वहीं [तृतीय स्कन्धमें] कपिलदेवकी उक्तिमें [भी यही बात निम्न श्लोकके द्वारा कही गई है]—

भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें लगे हुए [मत्पादसेवाभिरताः] और भगवान्‌को ही चाहने वाले [मदीहाः] कोई [अर्थात् भक्तजनमें एकात्मता अर्थात्] भगवान्‌के सारूप्य [अर्थात् सारूप्य मुक्ति] को भी नहीं चाहते है। जो भगवद्भक्त [मम पौरुषाणि अर्थात्] भगवान्‌की भक्तिके बलको [मोक्षादि रूप] अन्य सबसे अधिक [शक्तिशाली] समझते हैं ॥ ३२ ॥

भक्तजन [मत्सेवनं बिना अर्थात्] भगवान्‌की सेवा [भक्तिको छोड़कर दिए जाने वाले सालोक्य, सायुज्य [सार्ष्टि], सामीप्य और सारूप्य [रूप चारों प्रकारकी मुक्तियों] को भी लेना नहीं चाहते हैं। ३३।

चतुर्थ स्कन्धमें ध्रुवकी उक्तिमें [इसी निम्न श्लोकके द्वारा व्यक्त किया गया है

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ ! मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात् ॥३४॥

तत्रैव श्रीमदादिराजोक्तौ—

न कामये नाथ ! तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥ ३५ ॥

पञ्चमे श्री शुकोक्तौ—

यो दुस्त्यजान्क्षितिसुतस्वजनार्थदारान् प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्सेवाऽनुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥ ३६ ॥

षष्ठे श्रीवृत्रोक्तौ –

न नाकपृष्ठं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाऽऽधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस ! त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥ ३७ ॥

हे प्रभो ! आपके चरण-कमलोंका ध्यान करनेसे अथवा आपके भक्तोंकी कथाओंके श्रवणसे मनुष्यको जिस सुखकी प्राप्ति होती है, वह स्वयं प्रकाशस्वरूप ब्रह्म [की प्राप्ति] में भी नहीं हो सकती है तब यमराजकी तलवारसे कटे विमानसे गिरनेवाले [अन्य देवताओं] से कैसे हो ॥ ३४ ॥

वहीं पर [अर्थात् तृतीय स्कन्धमें] आदिराजकी उक्तिमें [इसी बातको निम्न प्रकार से कहा है]—

हे भगवन् ! उस [मोक्षादि रूप] किसी स्थानको भी नहीं चाहता हूँ जहाँ महापुरुषोंके मुखसे गिरा हुआ [अर्थात् महत्तम पुरुषोंके द्वारा गीयमान] आपके चरणकमलोंका आसव [अर्थात् आपका यशः पान करने अर्थात् सुननेको] न मिले । इसलिए [आपका यश सुननेके लिए] मुझे असंख्य कान प्रदान कीजिए, यही मेरा वर है [जिससे मैं सदैव आपके यश का श्रवण करता हुआ परमानन्दमें निमग्न रहूँ । यही मेरी कामना है] ॥ ३५ ॥

पञ्चम [स्कन्ध] में श्री शुककी उक्तिमें [भी इस विषयको निम्न प्रकारसे कहा गया है]—

[उस भक्तप्रवर] राजा भरतने जो दुस्त्यज पृथिवी, पुत्र, परिवार [स्वजन] और स्त्री तथा देवगण भी जिसके लिए ललचाते हैं [सुरवरैः सदयावलोकाम्] उस प्रार्थनीय लक्ष्मीको नहीं माँगा सो ठीक है; क्योंकि भगवान्की सेवामें जिनका मन लगा हुआ है [मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसां] उनके लिए [अभवः पुनरनुत्पत्ति अर्थात्] मोक्ष [का सुख] भी [फल्गुः] व्यर्थ है ॥३६॥

और छठे [स्कन्ध] में श्री वृत्रकी उक्तिमें [भी इस विषयका समर्थन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे भगवन् ! [समञ्जस] आप [की भक्ति] को छोड़कर मैं न [नाकपृष्ठं अर्थात्] स्वर्ग-पदको [चाहता हूँ] न महेन्द्र-पदको [महेन्द्रधिष्ण्यं चाहता हूँ], न सार्वभौम महाराज्य को, न [रसाधिपत्य अर्थात्] पृथ्वी के साम्राज्यको और न योगकी [अणिमा आदि] सिद्धियों अथवा [अपुनर्भव] मोक्षको ही चाहता हूँ । ३७ ॥

तत्रैव श्री रुद्रोक्तौ—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥ ३८ ॥

तत्रैवेन्द्रोक्तौ—

आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः ।
ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ॥ ३९ ॥

सप्तमे श्री प्रह्लादोक्तौ—

तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त ! आद्ये, किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥ ४० ॥

तत्रैव शक्रोक्तौ—

प्रत्यानीताः परम ! भवता त्रायता नः स्वभागाः
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि ।

वहीं [षष्ठ स्कन्धमें] रुद्रकी उक्तिमें [निम्न श्लोकोंमें भी इसी बातका प्रतिपादन किया गया है]—

भगवान्‌की भक्तिमें लगे हुए [नारायणपराः] सब [भक्तजन] किसीसे भी नहीं डरते हैं। और स्वर्ग, अपवर्ग एवं नरकको भी वे एक समान समझते हैं ॥ ३८ ॥

वहीं [षठ स्कन्धमें] इन्द्रकी उक्तिमें [निम्न प्रकारसे इसी अर्थका प्रतिपादन किया गया है—

[केवल] भगवान्‌की आराधना करने वाले जो निष्काम भक्तगण [परम] मुक्तिको भी नहीं चाहते हैं वे ही अपने स्वार्थ [की रक्षामें] कुशल माने जाते हैं। [अर्थात् मुक्तिको भी छोड़कर निष्काम भावसे भगवान्‌की भक्ति करनेमें ही मानवका वास्तविक कल्याण हो सकता है। इसलिए भगवद्भक्तिके लिए जो मोक्षको भी ठुकरा देते हैं वे ही अपना वास्तविक हितसाधन करते हैं] ॥ ३९ ॥

सप्तम [स्कन्ध] में श्री प्रह्लादकी उक्तिमें [इसी विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे भगवन् ! [अनन्त, आद्य अर्थात्] आदि-पुरुष [भगवान्] के प्रसन्न होने पर [धर्म अर्थ, काम मोक्ष आदिमेंसे] क्या दुर्लभ हो सकता है ? [अर्थात् दुर्लभ कुछ भी नहीं है। सभी कुछ सहज सुलभ हो सकता है] किन्तु जो धर्म आदि स्वयं ही प्राप्त हैं उनको त्रिकर गुणों [अर्थात् सत्त्व, रज तथा तमोगुणसे बनी त्रिगुणात्मक प्रकृति] के साथ सम्पर्क स्थापित करने अथवा बनानेसे क्या लाभ ? और भगवान्‌के चरणोंमें बैठकर उनकी वन्दना करने वाले [भक्तिके आनन्दरूप] सारको प्राप्त किये हुए हम लोगोंको [गुणोंसे रहित अर्थात् गुणातीत] मोक्षको भी चाहनेसे क्या लाभ ? ॥ ४० ॥

और वहीं [सप्तम स्कन्धमें] इन्द्रकी उक्तिमें [फिर इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे भगवन् ! हमारी रक्षा करके आपने अपने भागोंको पुनः प्राप्त कर लिया तथा दैत्योंसे और कालग्रस्त [हमारे] हृदय अपने निवास-स्थानको फिर प्रबुद्ध कर

कालस्त्व क्रियादृदसहो नाथ ! शुश्रूषता ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ॥ ४१ ॥

अष्टमे श्री गजेन्द्रोक्तौ—

एकान्तिनो यस्य न कंचनार्थं वांछन्ति ये भागवतप्रपन्नाः ।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमंगलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥ ४२ ॥

नवमे श्री वैकुण्ठनाथोक्तौ—

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥ ४३ ॥

श्री दशमे नागपत्नी स्तुतौ—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाऽऽधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्ना: ॥४४॥

तत्रैव श्रीवेदस्तुतौ—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।

दिया । हे भगवन् ! आपकी सेवा [भक्ति] करने वालोंके लिए यह कितना बड़ा फल है [कि उन्हें आपने अपना बना लिया] हे नारसिंह ! [नृसिंहावतार] उनको मुक्ति भी इससे अधिक प्रिय नहीं है अन्योंकी तो बात ही क्या ? । ४१ ।

अष्टम [स्कन्ध] में गजेंद्रकी उक्तिमें [भी इसी सिद्धांतका समर्थन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

भगवान्‌की शरणमें आये हुए और अत्यद्भुत चरित्रका गान करते हुए आनन्दके समुद्रमें निमग्न भगवान्‌के एकान्त भक्त [मोक्षादि रूप] अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करते हैं । ४२ ।

नवम [स्कन्ध] में श्री वैकुण्ठनाथकी [उक्तिमें] उसी सिद्धान्तका प्रतिपादन फिर निम्न प्रकारसे किया गया है]—

भगवान्‌की भक्तिसे भरे हुए वे [भक्तगण मत्सेवाया प्रतीतं] भक्तिके प्राप्त होने वाले सालोक्य आदि चार प्रकारके मोक्षको भी नहीं चाहते हैं अन्य विनश्वर वस्तुओंकी तो बात ही क्या है । ४३ ।

दशम [स्कन्ध] में नागपत्नीकी उक्तिमें [भी इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

जिन [भगवान्] के चरणोंकी शरणमें आए हुए [भक्तगण] न [नाकपृष्ठ अर्थात्] स्वर्ग पदको चाहते है न सार्वभौम साम्राज्यको [चाहते हैं] न परमेष्ठी [ब्रह्माके] के पदको [चाहते है] न पृथिवीके आधिपत्यको [चाहते हैं] और न योगसिद्धियों अथवा [अपुनर्भव अर्थात्] मोक्षकी इच्छा करते हैं । ४४ ।

वहीं [दशम स्कन्धमें] श्रीवेदकी स्तुतिमें [इसी बातको फिर निम्नप्रकारसे कहा गया है]

हे भगवन् [ईश्वर] ! आपके चरण-कमलोंके [उपासक हंसों अर्थात्] भक्तजनोंके सत्सगसे अपने घरोंका भी परित्याग कर देने वाले दुरवगम दुर्ज्ञेय आत्मतत्त्वके प्रतिपादनके

न परिपालयन्ति कचिदपवर्गमपीश्वर ! ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ ४५ ॥

एकादशे श्रीभगवदुक्तौ—
न किंचित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥ ४६ ॥

तथा—
न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाऽऽधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत् ॥ ४७ ॥

द्वादशे श्रीरुद्रोक्तौ—
नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥ ४८ ॥

पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये—
वरं देव ! मोक्षं न मोक्षावधिं वा न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह ।
इदं ते वपुर्नाथ ! गोपालबालं सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः ॥ ४९ ॥

लिए शरीर धारण करने वाले [भक्तगण] आपके चरित्र रूप अमृतके महासागरमें अवगाहन करनेके कारण संसारकी श्रान्तिसे छूट जाने वाले कोई [महा सौभाग्यशाली भक्तगण] अपवर्गकी कामना नहीं करते है । ४५ ।

ग्यारहवें [स्कन्ध] में भगवान्की उक्तिमें [फिर इसी विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है]—

सर्वथा मेरे [भगवान्के] भक्त, धीर और साधुपुरुष [भगवान्की भक्ति के अतिरिक्त] और कुछ भी नहीं चाहते हैं यहाँ तक कि कोई महा सौभाग्यशाली [मेरे] भगवान्के द्वारा दिए जानेवाले [अपुनर्भव] जन्म-मरणसे छुड़ा देनेवाले [कैवल्य] मोक्षको नहीं चाहते है । ४६ ।

और [उसी स्थलपर भगवानकी उक्तिमें ही यह भी कहा है कि]—

जिसने अपने-आपको भगवानको समर्पित कर दिया है [मय्यर्पितात्मा] वह [मद्विना] भगवान्के अतिरिक्त न ब्रह्माके पदको, न महेन्द्रके पदको, न सार्वभौम साम्राज्यको न पृथिवी के आधिपत्यको और न योगसिद्धियों अथवा मोक्षको ही चाहता है । ४७ ।

बारहवें [स्कन्ध] में श्रीरुद्रकी उक्तिमें [फिर निम्न प्रकारके इस भावसे व्यक्त किया गया है]—

अविनाशी पुरुष भगवानमें जिसको भक्ति प्राप्त हो गई है वह कदापि अन्य किसी विषयकी इच्छा नहीं करता है यहाँ तक कि मोक्षको भी नहीं चाहता है । ४८ ।

पद्मपुराणके कार्तिकमाहात्म्यमें [भी इस सिद्धान्तका समर्थन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे देव ! वरोंके स्वामी [यथेष्ट वरोंके प्रदान करनेवाले] से भी मैं न [सालोक्यादि रूप चार प्रकारके] मोक्षको और न मोक्षके अवधिभूत [सायुज्यात्मक पंचम प्रकारके मोक्ष] को वरण करना चाहता हूँ । हे भगवन् ! मेरी यही एकमात्र कामना है कि गोपाल-बालों सहित आपका दर्शन मुझे सदा होता रहे अन्य वस्तुओंमें क्या धरा है ? ४९ ।

कुबेरात्मजौ बद्धमूर्त्त्यैव यद्वत्त्वया मोचितौ भक्तिभाजौ कृतौ च ।
तथा प्रेमभक्तिं स्वकां मे प्रयच्छ न मोक्षे ग्रहो मेऽस्ति दामोदरेह ॥ ५० ॥

हयशीर्षश्रीनारायणव्यूहस्तवे च—

न धर्मं काममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर ! ।
प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाभिकामये ॥ ५१ ॥

तत्रैव—

पुनः पुनर्वरान् दित्सुर्विष्णुर्मुक्तिं न याचितः ।
भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम् ॥ ५२ ॥
यदृच्छया लब्धमपि विष्णोर्दाशरथेस्तु यः ।
नैच्छन्मोक्षं विना दास्यं तस्मै हनुमते नमः ॥ ५३ ॥

अत एव प्रसिद्धं श्रीहनुमद्वचनम्—

भवबन्धच्छिदे तस्मै स्पृहयामि न मुक्तये ।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते ॥ ५४ ॥

श्रीनारदपञ्चरात्रे च जितन्ते स्तोत्रे—

धर्मार्थकाममोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन ।
त्वत्पादपङ्कजस्याधो जीवितं दीयतां मम ॥ ५५ ॥

हे दामोदर ! आपने देह धारण करके कुबेरके दोनों पुत्रोंको बचाया और अपनी भक्तिका अधिकारी बनाया । इसी प्रकार मुझे भी अपनी भक्ति प्रदान करो, मुझे मोक्षका आग्रह नहीं है । ५० ।

[पद्मपुराणमें ही] हयग्रीव और श्रीनारायणव्यूहकी स्तुतिमें [इस विषयको फिर निम्न प्रकारसे प्रतिपादित किया है]—

हे वर प्रदान करनेवाले ईश्वर ! मैं धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्षको नहीं माँगता हूँ केवल आपके चरण-कमलोंकी भक्ति ही [माँगना] चाहता हूँ । ५१ ।

वहीं [पद्मपुराणके उसी प्रकरणमें फिर इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

बार-बार वर प्रदान करनेकी इच्छा करनेवाले विष्णुसे भी जिसने मुक्ति नहीं मांगी किन्तु केवल भक्तिका ही वरदान माँगा उस प्रह्लादको मैं नमस्कार करता हूँ । ५२ ।

विष्णुके [अवतार रूप] श्री रामचन्द्रसे [बिना माँगे] स्वयं ही प्राप्त होनेवाले मोक्षको भी जिसने [श्री रामचन्द्रजीके] दास्यको छोड़कर स्वीकार नहीं किया उन श्री हनुमानको नमस्कार है । ५३ ।

इसीलिए श्री हनुमानका [निम्नांकित भक्तिविषयक] वचन प्रसिद्ध है कि—

जहाँ [पहुँचकर] आप प्रभु है और मैं आपका दास [भक्त] हूँ, इसका लोप हो जाता है उन भव-बन्धनोंका नाश करनेवाले [सारूप्यात्मक] मोक्षको मैं नहीं चाहता है । ५४ ।

और नारदपंचरात्रके जितन्त स्तोत्रमें [भी इस सिद्धान्तका प्रतिपादन निम्न प्रकार प्रकारसे किया गया है]—

धर्म अर्थ काम और मोक्षके लिए तनिक भी इच्छा नहीं है । केवल अपने चरण

मा वसा आश्रय न ...
इच्छामि हि महाभाग ! कारुण्यं तव सुव्रत ! ॥ ५६ ॥

श्रीभागवते षष्ठे—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ! ॥ ५७ ॥

प्रथमे च श्रीधर्म्मराजमातुः स्तुतौ—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥ ५८ ॥

तत्रैव श्री सूतोक्तौ—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः, इति ॥ ५९ ॥

कमलोंकी छायामें मुझे जीने [रहने] दीजिए । ५५ ।

हे पृथिवीनाथ ! मैं सालोक्य, सारूप्य आदि मोक्षोंको नहीं मांगता हूँ । हे सुन्दर व्रत धारण करने वाले महाभाग ! मैं केवल आपकी दया [आपकी भक्ति] चाहता हूँ । ५६ ।

श्रीमद्भागवतके षष्ठ [स्कन्ध] में [भी इस सिद्धान्तका समर्थन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे महामुने ! [प्राकृत शरीरमें रहते हुए भी उसमें अभिमान न करने वाले] जीवन-मुक्तों और [सालोक्य, सारूप्यादिको प्राप्त हुए] सिद्धोंमें भी, प्रशान्त आत्मावाला और भगवानका अनन्य भक्त [नारायणपरायणः] करोड़ोंमें दुर्लभ होता है ।

और [श्रीमद्भागवतके] प्रथम [स्कन्ध]में भी धर्मराजकी माताकी स्तुति [के प्रकरण] में [इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]

और विमल आत्मा वाले परमहंस मुनियोंको [अपनी] भक्तिका योग प्रदान करने वाले आपको हम स्त्रियाँ कैसे जान सकती है । ५८ ।

इसमें यद्यपि स्पष्ट रूपसे यह नहीं कहा गया है कि भक्तिका महत्व मोक्षसे भी अधिक है किन्तु परमहंस मुनियोंको भक्तियोग प्रदान करनेको ही आना कहा गया है इसमें अर्थतः यह बात आ जाती है कि मोक्षकी अपेक्षा उनको भी अपनानेवाली भक्तिका महत्त्व अधिक है ।

और वहीं [अर्थात् प्रथम स्कन्धमें] श्री सूतकी उक्तिमें [इस विषयका निम्न प्रकारसे फिर प्रतिपादन किया गया है]—

आत्मानन्दमें विचरण करने वाले और [निर्ग्रन्था अर्थात्] विधि-निषेधके बन्धनोंसे मुक्त मुनिगण भी विष्णु भगवान्की [अहैतुकी अर्थात्] निष्काम भक्ति करते हैं इस प्रकारके गुणवान् हरि हैं । ५९ ।

सालोक्यादि मुक्ति और भक्ति—

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ तक बड़े विस्तारके साथ यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि भक्तजनोंके लिए भगवद्भक्तिके सामने मुक्तिका कोई महत्त्व नहीं । भगवान्की भक्ति का सुख मुक्तिके सुखसे कहीं अधिक उत्कृष्ट है इसका फलितार्थ यह होता है कि भक्तिमात्र

अत्र त्याज्यतयैवोक्ता मुक्तिः सर्वविधाऽपि चेत् ।
सालोक्यादिस्तथाऽप्यत्र भक्त्या नातिविरुध्यते ॥ १४ ॥
सुखैश्वर्योत्तरा सेयं प्रेमसेवोत्तरेत्यपि ।
सालोक्यादिर्द्विधा तत्र नाद्या सेवाजुषां मता ॥ १५ ॥
किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ ।
नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि ॥ १६ ॥
तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः ।
येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात् ॥ १७ ॥

में मुक्तिका कोई स्थान नहीं है। किन्तु भक्तिमार्गके शास्त्रोंमें ही सालोक्य-सायुज्य आदि मुक्तियोंका वर्णन किया गया है। इसलिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब भक्तिमार्गमें मुक्तिका कोई स्थान है ही नहीं तब इनका वर्णन क्यों किया गया है ? इस प्रश्नका उत्तर देने के लिए ग्रन्थकारने अगले प्रकरणका प्रारम्भ किया है। उसमें वे सिद्धान्त रूपसे यह प्रतिपादन करेंगे कि इन सालोक्यादि मुक्तियोंके भी दो रूप हैं। एक सुख-ऐश्वर्यादि-प्रधान रूप और दूसरा प्रेमसेवादि प्रधान रूप। उनमेंसे सुख-ऐश्वर्यादि-प्रधान रूप तो भक्तिमार्गमें सर्वथा त्याज्य है। किन्तु प्रेम-सेवादिप्रधान रूपका भक्तिमार्गके साथ विरोध नहीं है। सालोक्य सामीप्यादि मुक्तियोंमें जब प्रेम-सेवादिका अवसर मिल सकता है तो उनका भक्ति-सिद्धान्तके साथ विरोध नहीं होता है। इसलिए वे उपादेय हो सकती हैं। इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकारसे दिखलाते हैं—

यहाँ [अर्थात् भक्तिमार्गमें पूर्वोक्त प्रमाणोंके अनुसार] यद्यपि सब प्रकारकी मुक्ति त्याज्य ही बतलाई गई है फिर भी सालोक्यादि मुक्ति भक्तिसे अत्यन्त विपरीत नहीं होती है। १४।

[क्योंकि] वह सालोक्यादि रूप मुक्ति सुख-ऐश्वर्य प्रधान तथा प्रेम सेवादिप्रधान [दो प्रकारकी] होती है। उनमेंसे पहली [सुख-ऐश्वर्यप्रधान सालोक्यादि मुक्ति] सेवा-प्रेमियों [अर्थात् भक्तों] के लिए नहीं मानी जाती है। १५।

किन्तु भगवान्‌के एकांत भक्त केवल भक्तिके माधुर्यका ही भोग करते हैं [अर्थात् प्रेम-सेवादि प्रधान मुक्तिका भोग कर सकते हैं। वह उनके विपरीत नहीं जाता है। उससे रहित होनेपर वे १. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सायुज्य, ४. सार्ष्टि और ५. सारूप्यादि] पाँचों प्रकारकी मुक्तिको स्वीकार नहीं करते हैं। १६।

कृष्णभक्तिकी विशेषता—

भगवान्‌के विविध रूप माने जाते हैं। उन सभी रूपोंमें भगवान्‌की भक्ति की जा सकती है। किन्तु ग्रन्थकार स्वयं कृष्णभक्त हैं इसलिए उनके मतमें कृष्णभक्ति में ही भक्ति का सुन्दरतम रूप अभिव्यक्त होता है। इसलिए वे अगली कारिकामें कृष्णभक्तिका विशेष महत्त्व प्रतिपादित करते हैं—

उन [भगवान्‌के] एकान्त भक्तोंमें भी कृष्णने जिनका मन हरण कर लिया है वे [अन्य भक्तोंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हैं। अर्थात्] भगवान्‌की कृपा

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि कृष्णश्रीशस्वरूपयोः ।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः ॥ १८ ॥

किञ्च—

शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता ।
सर्वाधिकारितां माघस्नानस्य ब्रुवता यतः ॥ १९ ॥

इष्टि भी [कृष्णकी ओरसे हटाकर] जिनके मनको हरण करनेमें समर्थ नहीं हो सकती है ॥ १७ ॥

कृष्ण और श्रीश भगवान्‌का भेद—

कृष्णभक्तिकी यह जो विशेषता ग्रन्थकारने दिखलाई है इसमें [illegible] लक्ष्मीपति भगवान्‌का भेद प्रतीत होता है । वैसे ग्रन्थकार कृष्णको भी [illegible] स्वरूप ही मानते है । इसलिए उन्हें इस श्लोकमें [illegible] या उसका समाधान करनेकी आवश्यकता आ पड़ी है । [illegible] प्रतिपादन करते हुए वे प्रस्तुत शंकाका समाधान निम्न प्रकारसे [illegible]

सिद्धांत रूपसे कृष्ण और भगवान् [श्रीश] के स्वरूपमें कोई भेद नहीं है । [कृष्ण स्वयं भगवान् स्वरूप है] फिर भी कृष्णका स्वरूप [श्रीश भगवान्‌के स्वरूपकी अपेक्षा] अधिक रसमय है । यही रसका नियम [स्थिति] है [कि वह कृष्णभक्तिके रूपमें ही अधिक सुन्दर रूप से अभिव्यक्त होता है] । १८ ।

मनुष्यमात्रको भक्तिका अधिकार है—

कर्मकांड और ज्ञानकाडसे भक्तिमार्गकी कई विशेषताओंका वर्णन [illegible] कर चुके हैं । उसकी एक और विशेषताका प्रतिपादन वे अगली कारिकामें [illegible] है । वह विशेषता उसमें मनुष्यमात्रका अधिकार स्वीकार करना है । ज्ञानमार्ग और कर्ममार्गके अनुयायियोंने अपना मार्ग शूद्रोंके लिए बन्द कर रखा है । [illegible] विशेष रूपसे ब्राह्मण ही ज्ञान या कर्मके अधिकारी हो सकते हैं । शूद्रोंका इन दोनों मार्गोंमें प्रवेश सम्भव नहीं है । किन्तु भक्तिमार्गके आचार्योंने शूद्रोंके लिए भी अपना मार्ग [illegible] कर दिया है । यह उनकी एक प्रमुख विशेषता है । [illegible] ग्रंथकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार करते हैं—

और भी [कहा है]—

[भागवत आदि] शास्त्रके अनुसार भक्तिमें मनुष्यमात्रका [अर्थात् द्विजातिसे भिन्न शूद्रका भी] अधिकार है । क्योंकि वसिष्ठने माघस्नानमें [शूद्र सहित] सबका अधिकार बताते करते समय भगवान्‌की भक्तिको राजाके सामने दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया है ॥ १९ ॥

अर्थात् जैसे भक्तिमें शूद्र सहित सब जातियोंका अधिकार है [illegible] भी सबका अधिकार है यह बात कहकर वसिष्ठने पद्मपुराणमें [illegible] अधिकार स्वीकार कर लिया है । इसलिए शूद्र भक्तिके अधिकारी हैं यह ग्रन्थकारका आशय है ।

ऊपरकी कारिकामें ग्रन्थकारने वसिष्ठके जिस कथनकी ओर संकेत करके भक्तिमें

दृष्टान्तिता वसिष्ठेन हरिभक्तिर्नृपं प्रति ।

यथा पाद्मे—

सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र हरिभक्तौ यथा नृप ! ॥ ६० ॥

काशीखण्डे च तथा—

अन्त्यजा अपि तद्राष्ट्रे शङ्खचक्राङ्कधारिणः ।
संप्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव संबभुः, इति ॥ ६१ ॥

अपि च—

शूद्रोंके अधिकारको सिद्ध करनेका यत्न किया है उस वचन को वे पद्मपुराणमें आगे उद्धृत करते हैं—

जैसा कि पद्मपुराणमें [कहा है]—

हे राजन् ! जैसे हरिभक्तिमें [शूद्रादि सभी अधिकारी हैं] इसी प्रकार यहाँ [अर्थात् माघस्नानमें] भी [शूद्र सहित] सब अधिकारी हैं । ६० ।

और काशीखण्डमें भी ऐसा ही कहा है—

उस [भगवद्भक्तिके] राज्यमें शंख, चक्रधारी शूद्रभी वैष्णवी दीक्षाको प्राप्त कर दीक्षित [ब्राह्मण आदि] के समान शोभित होते हैं । ६१ ।

भक्तिमार्गमें प्रायश्चित्तका स्थान नहीं—

भक्तिमार्गकी दो प्रमुख विशेषताएँ ग्रन्थकार ऊपर दिखला चुके हैं । तीसरी विशेषता आगे दिखलाते है । पहिली दो विशेषताओंमेंसे एक तो मोक्षकी हीनता है और दूसरी शूद्रका अधिकार है । ये दोनों ही विशेषताएँ अन्य शास्त्रोंके अनुयायियोंको चोंका देनेवाली विशेषताएँ है । इसी प्रकार तीसरी जिस विशेषताको ग्रन्थकार अगली कारिकामें दिखलाना चाहते है वह भी एक बड़ी महत्त्वपूर्ण विशेषता है । ज्ञान और कर्ममार्गका प्रतिपादन करने वाले सभी शास्त्रोंमें प्रायश्चित्तोंका विधान पाया जाता है । 'सत्य वै देवा अनृतं मनुष्याः' इस सिद्धात के अनुसार मानवमात्रसे जीवनमें कभी-न-कभी भूल होना स्वाभाविक है । उस दोषके परिहार करनेके लिए ही शास्त्रोंमें विविध प्रकारके प्रायश्चित्तोंका वर्णन पाया जाता है । कर्ममार्गी और ज्ञानमार्गी दोनों ही उन प्रायश्चित्तोंकी स्थिति उपयोगिता और आवश्यकताको स्वीकार करते हैं । किन्तु भक्तिमार्गके आचार्योंने प्रायश्चित्तके सिद्धान्तका सर्वथा बहिष्कार कर दिया है । उनके सिद्धान्तमें प्रायश्चित्तका कोई स्थान नहीं है । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भक्तिमार्गका अनुयायी कभी कोई भूल या पाप नहीं करता है । जैसे अन्य सब लोगोंसे भूल या पाप हो जाना स्वाभाविक है इसी प्रकार भक्तिमार्गका अनुयायी भी कभी प्रमादवश अपने कर्तव्य-मार्गसे विचलित होकर पाप कर बैठता है । किन्तु उसको उस पापका प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है । उसकी भक्तिके बलसे ही उसके पापका निवारण हो जाता है । भक्तिकी पहली दो विशेषताओंके समान यह सिद्धान्त भी अन्य लोगोंको चौंका देनेवाला और बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । इसका प्रतिपादन ग्रन्थकार अगली कारिकाओंमें निम्न प्रकार करते हैं

और [कर्ममार्ग तथा अपेक्षा तीसरी विशेषता यह] भी

अननुष्ठानतो दोषो भक्त्यङ्गानां प्रजायते । [illegible]

न कर्म्मणामकरणे दोषो भक्ताधिकारिणाम् ।

निषिद्धाचारतो दैवात् प्रायश्चित्तं न चोचितम् ॥२१॥

इति वैष्णवशास्त्राणां रहस्यं तद्विदां मतम् ।

यथैकादशे—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥ [illegible] ॥

प्रथमे—

भक्तिके अधिकारियोंको भक्तिके अंगोंका अनुष्ठान न करने पर [illegible] होता है किन्तु [प्रायश्चित्तादिके रूप] कर्मोंके न करनेसे वह [दोष] नहीं होता है ॥ [illegible] ॥

[इसलिए] दैवात् निषिद्ध आचरण कर बैठनेपर भी [भक्तिके अधिकारियोंके लिए] प्रायश्चित्त करना उचित नहीं है। [क्योंकि उनकी भक्तिके [illegible] हो जाता है] यह वैष्णव शास्त्रोंका रहस्य उसके विद्वानोंने बतलाया है ॥ २१ ॥

आगे ग्रन्थकार अपने इस सिद्धान्तके समर्थनके लिए [illegible] प्रमाण रूप से उद्धृत करते हैं। मोक्षकी लघुताका प्रदर्शन करनेके लिए [illegible] बहुत अधिक प्रमाण प्रस्तुत किए थे। उसका कारण यह है कि [illegible] मे सर्वाधिक माना गया है। किन्तु भक्तिके आचार्योंने उसकी [illegible] उसकी अपेक्षा अधिक महत्व दिखलाया है इसलिए उस सिद्धान्तके समर्थनके लिए [illegible] अधिक विस्तारके साथ प्रमाण उद्धृत करनेकी आवश्यकता पड़ी। [illegible] अनुपादेयताका सिद्धांत भी नया-सा सिद्धान्त है इसलिए [illegible] विस्तारपूर्वक अनेक प्रमाण उद्धृत कर रहे हैं। उनमें सबसे [illegible] से प्रमाण देते हैं—

जैसा कि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [कहा है कि]

अपने-अपने कर्तव्य [अधिकार] का जो [निष्ठा] पालन करना है वह गुण [illegible] है और उसका उलटा [अथवा अपने कर्तव्यका पालन न करना] दोष। [गुण और दोष इन] दोनोंका ही रहस्य [निश्चय पहिचान] है। ८२।

यह प्रमाण ग्रन्थकारने इस सिद्धान्तकी पुष्टिके लिए प्रस्तुत किया है कि [illegible] [illegible]नुयायीके लिए प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। [illegible] अर्थको साक्षात् स्पष्ट रूपसे नहीं कहा गया है। परन्तु [illegible] लगाते हैं कि अपने कर्तव्यका पालन ही गुण है और उसका [illegible] मार्गके अनुयायीको अपने भक्तिमार्गका पालन करना ही [illegible] प्रायश्चित्त आदि कर्मकाण्डमें फँसना उसका गुण नहीं अपितु दोष होगा। [illegible] [illegible]श्चित्त नहीं करना चाहिए।

[ ] प्रथम [स्कन्ध] मे भी इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किं, को वाऽर्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः ॥ ६३ ॥

एकादशे—

आज्ञायैव गुणान् दोषान्मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत्स च सत्तमः ॥ ६४ ॥

तत्रैव —

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ! ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम् ॥ ६५ ॥

श्रीभगवद्गीतासु—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥ ६६ ॥

अगस्त्यसंहितायाम् ·

भगवान्के चरण-कमलोंका ध्यान करने वाला अपरिपक्व [भक्त] भी यदि [कभी प्रमादवश] अपने धर्मको छोड़कर पतित हो जाय तो भी जहाँ कहीं [अर्थात् किसी भी दशा मे।] उसका कौन-सा अकल्याण हो सकता है ? [अर्थात् भक्तिके बलसे उसकी सदा रक्षा होती है । कहीं भी उसका अकल्याण नहीं होता है । अतः प्रायश्चित्तकी आवश्यकता उसे नहीं होती है।] [इसके विपरीत] भक्तिको त्यागकर [प्रायश्चित्त आदिके चक्करमें पड़नेपर] अपने धर्मका पालन करनेसे भी उसे कौन-सा लाभ मिल जाता है [अर्थात् कोई लाभ नहीं होता है । ६३।

और एकादश [स्कन्ध] में [भी निम्न प्रकारसे इस सिद्धान्तका समर्थन किया गया है]

इस प्रकारसे [भक्तिमार्ग एवं कर्मयोगादिके] गुणो और दोषोंको [आ समन्तात ज्ञात्वा आज्ञाय] भलीभाँति समझकर, मेरे द्वारा कहे हुए भी अपने [कर्मकांड आदि रूप] सब धर्मोंका परित्याग कर जो [मां अर्थात्] परमात्माकी भक्ति करता है वह अधिक श्रेष्ठ है [इसमें भी प्रायश्चित्तादि रूप कर्मोंकी अपेक्षा भक्तिका माहात्म्य दिखलाया है] । ६४ ।

वहीं [ग्यारहवें स्कन्धमें फिर इस विषयको निम्न प्रकार प्रतिपादन किया गया है]--

हे राजन् ! जो [प्रायश्चित आदि] कर्मकाण्ड [कर्तम् कृत्यम्] को छोड़कर पूर्ण रूपसे शरणागत-पालक [मुकुन्द] भगवान्की शरणमें आ जाता है वह देव, ऋषि, भूत, आप्त पुरुष या पितर किसीका भी न सेवक होता है और न ऋणी होता है । ६५ ।

अर्थात् उसकी सन्मार्गमें प्रवृत्ति और अकर्तव्यसे रक्षा आदिका सारा भार अपने आराध्यदेवके ऊपर ही होता है । उसके लिए अन्य किसी प्रकारके प्रायश्चित्तादि रूप विधि-विधानकी आवश्यकता नहीं रहती है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें [भी इस सिद्धान्तका समर्थन करते हुए लिखा गया है कि—]

[कर्मकांडके विधि-विशेष रूप] समस्त धर्मोंका परित्याग कर [मामेक=मेरी] केवल भगवान्की शरण लेना चाहिए । वह [अहम् मैं भगवान्] तुमको सब पापोंसे बचावेगा [उस पर विश्वास रखो] किसी शोक किसी प्रकारकी चिन्ता मत करो ६६ ।

संहितामें [भी इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है

यथा विधिनिषेधौ तु मुक्तं नैवोपसर्पतः
तथा न स्पृशतो रामोपासकं विधिपूर्वकम् ॥ [illegible] ॥

एकादशे च—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदि [illegible] ॥ [illegible] ॥

हरिभक्तिविलासेऽस्या भक्तेरङ्गानि लक्षशः ॥ [illegible] ॥
किं तु तानि प्रसिद्धानि निर्दिश्यन्ते यथामति ।

तत्राङ्गलक्षणम्—

जिस प्रकारसे [कर्मकाण्डके] विधि और निषेध, मुक्त पुरुषोंमें [illegible] नहीं होते हैं [मुक्तं नैवोपसर्पतः] इसी प्रकार विधिपूर्वक [अर्थात् [illegible]] भगवान्की उपासना करने वालेको [ये विधि-निषेध] स्पर्श नहीं करते हैं । ६७ ।

ग्यारहवें [स्कन्ध] में ही [फिर इस विषयका प्रतिपादन [illegible] प्रकार किया गया है]—

अन्य सब भावोंको छोड़कर [अनन्य भावसे] अपने [illegible] सेवामें लगे हुए अपने प्रिय [भक्त] के हृदयमें समाये हुए [हरिः परेशः] भगवान् यदि किसी प्रकार कोई पाप [विकर्म] उससे हो जाय तो उन सबको दूर कर देते हैं । ६८ ।

इस प्रकार इन सात श्लोकोंके द्वारा ग्रन्थकारने [illegible] यत्न किया है कि भक्तिमार्गके अनुयायीको अन्य किसी प्रकारके [illegible] आदिकी आवश्यकता नहीं रहती है । साधारण रूपसे उससे [illegible] नहीं होती है । किन्तु यदि कभी किसी प्रकार वह कोई अनुचित कार्य भी [illegible] हृदयमें समाये हुए भगवान् ही उस पाप-कर्मसे उसका उद्धार [illegible] की उसको आवश्यकता नहीं होती है । ज्ञानमार्गमें भी [illegible] न्मुक्तोंकी स्थिति इस प्रकार मानी गई है ।

ज्ञानमार्गमें ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर चुकनेके बाद जीवन्मुक्तोंकी स्थिति [illegible] की मानी गई है कि जिसमें मातृवध, पितृवध [illegible] नहीं लगता है । "न तस्य केनापि कर्मणा लोको [illegible]" इत्यादि आशयके वाक्य उपनिषदादिमें पाए जाते हैं ।

भक्तिके अंग—

आगे बहुत विस्तारके साथ ग्रन्थकार भक्तिके अंगोंका [illegible] । वैसे तो भक्तिके अपरिगणित अंग हो सकते हैं फिर भी [illegible] कुछ मुख्य-मुख्य अंगोंका ही वर्णन यहाँ ग्रन्थकारने किया है । उनमें [illegible] और दस निषेध-रूप अं अधिक महत्त्वपूर्ण माने गए हैं ।

हरिभक्तिविलासमें इस भक्तिके लाखों अंग कहे हैं किन्तु [हम उन सबको न कहकर] उन विशेष रूपसे प्रसिद्ध अंगोंको ही अपनी बुद्धिके अनुसार कह रहे हैं । २९ ।

उनमें सबसे पहले] अंगका लक्षण कहते हैं]

केवलमेव वा ॥ २३ ।
एकं कर्मात्र विद्वद्भिरेकं भक्त्यङ्गमुच्यते ।

अथाङ्गानि—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणम् ।
विस्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्त्तनम् ॥२४॥
सद्धर्मपृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे ।
निवासो द्वारकाऽऽदौ च गङ्गाऽऽदेरपि सन्निधौ ॥२५॥
व्यवहारेषु च सर्वेषु यावदर्थानुवर्तिता ।
हरिवासरसम्मानो धात्र्यश्वत्थादिगौरवम् ॥२६॥
एषामत्र दशाङ्गानां भवेत् प्रारम्भरूपता ।
सङ्गत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः ॥२७॥
शिष्याद्यननुबन्धित्वं महारम्भाद्यनुद्यमः ।
बहुग्रन्थकलाभ्यासव्याख्यावादविवर्जनम् ॥२८॥

अवान्तर अनेक भेदोंसे युक्त अथवा [अवान्तरभेदोंसे रहित] केवल, एक कर्मको ही यहाँ [भक्ति-सिद्धांतमें] विद्वानोंने भक्तिका एक अंग माना है । २३ ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भक्तिके अंतर्गत किए जाने वाला प्रत्येक कर्म भक्तिका एक अंग कहलाता है । कहीं उसके साथ कुछ अवान्तर कर्म भी संबद्ध रहते हैं और कहीं नहीं ।

अब भक्तिके अंगोंको [दिखलाते हैं]—

१. गुरुके चरणोंका आश्रय लेना, २. उनसे कृष्ण-दीक्षा आदिको ग्रहण करना, ३. विश्वासपूर्वक गुरुकी सेवा, ४. साधु-मार्गका अनुसरण करना ॥ २४ ॥

५. सद्धर्मकी जिज्ञासा, ६. भगवान् [कृष्ण] के लिए भोगादिका परित्याग, ७. द्वारिका आदिमें अथवा गंगादिके तट पर निवास ॥ २५ ॥

८. सारे व्यवहारों व प्रयोजनके अनुसार ही काम करना [अर्थात् व्यर्थके कार्योंमें न पड़ना], ९. कृष्णजन्मादिके पवित्र दिवसोंका सम्मान, और १०. आमलक, अश्वत्थ आदि [वृक्षों] का माहात्म्य [मानना] ॥ २६ ॥

ये दस अंग यहाँ कर्तव्य रूप कहे गए हैं । [और अगले दस अंग निषेध रूप माने गए हैं । वे निषेध रूप दस अंग आगे कहे जाते हैं] । १. भगवान्से विमुख जनोंके संगको दूरसे ही त्याग देना ॥ २७ ॥

२. शिष्य आदि [बनानेका] का सम्बन्ध न रखना, बड़े-बड़े [सांसारिक] कार्योंका आरम्भ न करना, ४. अधिक ग्रंथों अथवा कलाओंका अभ्यास और [उनकी] व्याख्या और विवाद आदिको बचाना । २८ ।

व्यवहारे शोकाद्यवशवर्तिता
अन्यदेवानवज्ञा च भूतानुद्वेगदायिता ॥२९॥
सेवानामपराधानामुद्भवाभावकारिता ।
कृष्णतद्भक्तविद्वेषविनिन्दाद्यसहिष्णुता ॥३०॥
व्यतिरेकतयाऽमीषां दशानां स्यादनुष्ठितिः ।
अस्यास्तत्र प्रवेशाय द्वारत्वेऽप्यङ्गविंशतेः ॥३१॥
त्रयं प्रधानमेवोक्तं गुरुपादाश्रयादिकम् ।
धृतिर्वैष्णवचिह्नानां हरेर्नामाक्षरस्य च ॥३२॥
निर्माल्यादेश्च तस्याग्रे ताण्डवं दण्डवन्नतिः ।
अभ्युत्थानमनुव्रज्या गतिः स्थाने परिक्रमा ॥३३॥
अर्च्चनं परिचर्या च गीतं सङ्कीर्तनं जपः ।
विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वादो नैवेद्यपाद्ययोः ॥३४॥
धूपमाल्यादिसौरभ्यं श्रीमूर्तेः स्पृष्टिरीक्षणम् ।
आरात्रिकोत्सवादेश्च श्रवणं तत्कृपेक्षणम् ॥३५॥

---

५. व्यवहारमें दीनताको न आने देना, ६ शोकादिके वशीभूत न होना, [illegible]वताओंका अपमान न करना, ८. प्राणियोंको न सताना ॥ २९ ॥

९. सेवा [भक्ति] में त्रुटियोंको न आने देना, १०. भगवान् [कृष्ण] और उन[illegible] विद्वेष और उनकी निन्दा आदिको न सहना ॥ ३० ॥

इन दस [भक्त्यंगों] का निषेध रूप से अनुष्ठान होता है ।

उस [भक्ति मार्ग] में प्रवेशके लिए इन बीसों अंगोंके द्वार रूप होने पर भी [illegible]कृपादाश्रय इत्यादि [प्रारम्भिक] तीनको ही प्रधान अङ्ग माना गया है ॥ ३१ ॥

इन बीस अङ्गोंके अतिरिक्त अन्य [illegible] कार गिनाते है—

२१. वैष्णव चिह्नोंको धारण करना, २२ हरिके नामके अक्षरोंको धारण [illegible]३. निर्माल्यादिका धारण, २४. उनके सामने ताण्डव नृत्य और २५. दण्डवत् [illegible]रना ॥ ३२ ॥

२६. उठना [अर्थात् खड़े होकर स्वागत करना], २७. उनके पीछे चलना, [illegible] थानोंमें चलना, २९. परिक्रमा लगाना ॥ ३३ ॥

३०. पूजा करना, ३१. सेवा करना, ३२. गीत, ३३. संकीर्तन, ३४. जप [illegible]ज्ञप्ति, ३६. स्तुति पाठ तथा ३७. नैवेद्यका आस्वादन तथा ३८. पाद्यका [illegible] रना ॥ ३४ ॥

३९ धूप माल्यादिके सुगन्धका ग्रहण करना ४० श्री मूर्तिका स्पर्श तथा ४०

स्मृतिर्ध्यानं तथा दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।
निजप्रियोपहरणं तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥३६॥
सर्वथा शरणापत्तिस्तदीयानां च सेवनम् ।
तदीयास्तुलसीशास्त्रमथुरावैष्णवादयः ॥३७॥
यथावैभवसामग्रि सद्गोष्ठीभिर्महोत्सवः ।
ऊर्जादरो विशेषेण यात्रा जन्मदिनादिषु ॥३८॥
श्रद्धाविशेषतः प्रीतिः श्रीमूर्तेरङ्घ्रिसेवनम् ।
श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह ॥३९॥
सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे ।
नामसङ्कीर्तनं श्रीमन्मथुरामण्डले स्थितिः ॥४०॥
अङ्गानां पञ्चकस्यास्य पूर्वं विलिखितस्य च ।
निखिलश्रैष्ठ्यबोधाय पुनरप्यत्र संशनम् ॥४१॥
इति कायहृषीकान्तःकरणानामुपासनाः ।
चतुःषष्टिः पृथक् साङ्घातिकभेदात् क्रमादिमाः ॥४२॥

करना, ४२ आरती तथा उत्सव आदिका दर्शन, ४३. श्रवण, और ४४. उनकी कृपाका अवलोकन करना ॥ ३५ ॥

[भगवान्‌का] ४५. स्मरण करना, ४६. ध्यान करना, ४७. दास्यभाव, ४८. सख्य-भाव और ४९. आत्मनिवेदन करना, ५०. अपने प्रियको [भगवान्‌के] अर्पण कर देना, और ५१ उन्हींके निमित्त सारे व्यापारोंका करना ॥ ३६ ॥

५२. पूर्ण रूपसे [भगवान्‌की] शरणमें आ जाना, ५३. उनके प्रिय पदार्थोंका सेवन, तुलसी [का सेवन], ५४. [भागवतादि] शास्त्र [का सेवन], ५५. मथुरा और ५६. वैष्णव आदि [का सेवन] उनके प्रिय पदार्थ हैं ॥ ३७ ॥

५७. अपने वैभव और सामर्थ्यके अनुसार सुन्दर गोष्ठियोंके साथ महोत्सव मनाना, ५८. विशेष रूपसे कार्तिक मासमें आदर प्रकट करना, ५९. जन्म-दिवस आदि पर यात्रा करना ॥ ३८ ॥

६०. विशेष श्रद्धा एवं प्रेमसे श्रीमूर्तिके चरणोंकी सेवा, और ६१. रसिकोंके साथ श्रीमद्भागवतके अर्थोंका आस्वादन करना ॥ ३९ ॥

६२. अपनेसे उत्तम सजातीय प्रेमी साधुओंके साथ सत्संग करना, ६३. नामका संकीर्तन तथा ६४. मथुरा मण्डलमें निवास करना ॥ ४० ॥

पहिले भी लिखे हुए इन पाँच अंगोंकी सर्वश्रेष्ठताके बोधनके लिए यहाँ दुबारा कथन किया गया है ॥ ४१ ॥

१ कायिक, २ वाचिक और ३ मानसिक ये अलग-अलग तथा ४ सम्मिलित रू ये ६४ अंग होते हैं ४२

मुदाहरणमीयते । २८ ॥

१. तत्र गुरुपादाश्रयो यथैकादशे—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥ [illegible] ॥

२. कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणं यथा तत्रैव—

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययाऽनुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः ॥ [illegible] ॥

'हृषीक विषयीन्द्रिय' इस अमरकोष [illegible] 'हृषीक' [illegible] होता है । इस ४२वीं कारिकामें 'काय' और [illegible] [illegible] यहाँ उससे वागिन्द्रियका ग्रहण किया गया है । [illegible] कायिक, वाचिक तथा मानसिक उपासना होती है । [illegible] उणादि ४-१५ इस उणादि सूत्रके द्वारा निष्पन्न [illegible] यहाँ पर विशेष अर्थ वागिन्द्रिय किया गया है ।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँ [illegible] है । ग्रन्थकारने हरिविलासमें बतलाए हुए [illegible] सब मुख्य अङ्ग नहीं है । उनमेंसे मुख्य अङ्ग [illegible] समान रूपसे मान्य हो सकते हैं । इनमेंसे [illegible] अन्य भक्तिक्षेत्रोंमें मान्य नहीं हो सकते हैं । [illegible] इसी प्रकार अन्य भक्तिक्षेत्रोंमें भी उन अङ्गोंमें परिवर्तन [illegible] परिवर्तनके सभी भक्तिक्षेत्रोंमें समान रूपसे उपादेय हो [illegible] शेष गौण भक्त्यङ्ग भिन्न-भिन्न भक्तिक्षेत्रोंमें [illegible] यहाँ कृष्णभक्तिकी दृष्टिसे ही उनको गिनाया गया है ।

ये १९ श्लोक जिनमें अङ्गोंकी गणना कराई गई है [illegible] वे उदाहरण रूपमें नहीं है । किन्तु पूर्व संस्करणोंमें [illegible] हम यहाँ उन पर भी संख्या डाल रहे हैं । [illegible]

भक्त्यंगोंके उदाहरण—

अब ऋषियोंके मतके अनुसार इन [६४ प्रकारके भक्तिके अंगों] के उदाहरण आगे देते हैं । ४३ ।

१—उनमेंसे गुरुपादाश्रय [का उदाहरण] जैसा कि [भागवतके एकादश [स्कन्ध] में [कहा गया है]—

इसलिए श्रेयोमार्गको जाननेकी इच्छा रखने वाला [जिज्ञासु] शब्द ब्रह्म [अर्थात् शास्त्रों] और परब्रह्ममें निष्णात एवं शान्त-स्वरूप, उत्तम गुरुकी शरणमें जाए । ४६ ।

२—कृष्णदीक्षा आदिका शिक्षण जैसे वहीं [अर्थात् भागवतके एकादश स्कन्धमें निम्न प्रकार कहा गया है]—

अपने ज्ञानको प्रदान करने वाले भगवान् जिनसे प्रसन्न होते हैं उनको गुरु-रूप भगवान् स्वयं धर्मोंकी अर्थात् भगवद् भक्तिके अनुरूप धर्मोंकी शिक्षा प्रदान करते हैं ४७

३. विस्रम्भेण गुरोः सेवा यथा तत्रैव
आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥ ७१ ॥
४. सद्वर्त्मानुवर्त्तनं यथा स्कान्दे —
स मृग्यः श्रेयसां हेतुः पन्था सन्तापवर्जितः ।
अनवाप्तश्रमं पूर्वे येन सन्तः प्रतस्थिरे ॥ ७२ ॥
ब्रह्मयामले च
श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना ।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते ॥ ७३ ॥

भक्तिरैकांतिकीवेयमविचारात्प्रतीयते ।
वस्तुतस्तु तथा नैव यदशास्त्रीयतेक्ष्यते ॥ २४ ॥

५. सद्धर्मपृच्छा यथा नारदीये—
अचिरादेव सर्वार्थः सिद्ध्यत्येषामभीप्सितः ।
सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः ॥ ७४ ॥
६. कृष्णार्थे भोगादित्यागो यथा पाद्मे—

३—श्रद्धापूर्वक गुरुकी सेवा [का उदाहरण] जैसे वहीं [अर्थात् भागवत्के ग्यारहवें स्कन्धमें इस प्रकार कहा गया है]—

आचार्यको साक्षात् भगवान् [मां विजानीयात्] समझे कभी भी उसका तिरस्कार न करे। मानव-बुद्धिसे [अर्थात् उनको साधारण मनुष्यमात्र समझकर] उनकी निन्दा न करे क्योंकि गुरु सर्वदेवमय [माने गए] हैं। ७१।

४ साधुमार्गका अनुसरण जैसा कि स्कन्दपुराणमें [निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है] —

सन्तापसे रहित कल्याणके उस मार्गको खोजना चाहिए जिससे पूर्व लोग बिना कष्टके अनायास गए हैं। ७२।

५ और ब्रह्मयामलमें भी [उसका वर्णन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

श्रुति स्मृति पुराणादि और पंचरात्रमें कहे हुए विधि [कर्मकाण्ड] को छोड़कर भक्तिका अवलम्बन केवल उत्पात-कारक ही हो सकता है। ७३।

[भक्तिके अङ्गभूत कर्मकाण्ड से विरहित] यह जो [ऐकान्तिकी] केवल भक्ति प्रतीत होती है वह विचार न करनेके कारण ही प्रतीत होती है। वास्तवमें तो वैसी [ऐकांतकी कर्म विरहित भक्ति] नहीं है। क्योंकि वह शास्त्रोंके विरुद्ध [अशास्त्रीय] है। ४४।

५ -सद्धर्मके पूछनेकी इच्छा [का उदाहरण] जैसे नारदपञ्चरात्रमें कहा गया है]—

सद्धर्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जिनको प्रबल आग्रह होता है उनका अभीप्सित सारा काम शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है। ७४।

६—भगवान् [कृष्ण] के लिए भोग आदिका त्याग [का उदाहरण] जैसे पद्मपुराण [निम्न श्लोकमें कहा गया है]

हरिमुद्दिश्य भोग्यान काले त्यक्तवतस्तव ।
विष्णुलोके स्थिता सम्पदलोला सा प्रतीक्षते ॥ ७५ ॥

७. द्वारकाऽऽदिनिवासो यथा स्कान्दे—

संवत्सरं वा षण्मासान् मासं मासार्द्धमेव वा ।
द्वारकावासिनः सर्वे नरा नार्यश्चतुर्भुजाः ॥ ७६ ॥

आदिशब्देन पुरुषोत्तमक्षेत्रवासश्च यथा ब्राह्मे—

अहो क्षेत्रस्य माहात्म्यं समन्ताद्दशयोजनम् ।
दिविष्ठा यत्र पश्यन्ति सर्वानेव चतुर्भुजान् ॥ ७७ ॥

गङ्गाऽऽदिवासो यथा प्रथमे—

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान् कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥ ७८ ॥

८. यावदर्थानुवर्तिता यथा नारदीये—

यावता स्यात्स्वनिर्वाहः स्वीकुर्यात्तावदर्थवित् ।
आधिक्ये न्यूनतायां च च्यवते परमार्थतः ॥ ७९ ॥

भगवान् [की भक्ति] के निमित्त समय पर सारे भोगोंका त्याग कर देने वाले तुम्हारे लिए व्याकुल हुई लक्ष्मी स्वर्गलोकमें [आतुर होकर तुम्हारे आगमनकी] प्रतीक्षा कर रही है। ७५।

७—द्वारका आदिमें वास [का समर्थक उदाहरण या प्रमाण] जैसे स्कन्दपुराणमें [निम्न श्लोकमें कहा गया है]—

एक साल तक, अथवा छः मास तक, अथवा एक मास तक, अथवा आधे मास तक [ही सही] द्वारकामें रहने वाले सारे नर-नारी चतुर्भुज [साक्षात् विष्णु] बन जाते हैं। ७६।

आदि शब्दसे पुरुषोत्तमक्षेत्र [कुरुक्षेत्र] आदिमें वास [का समर्थक प्रमाण या उदाहरण] ब्रह्मपुराणमें [निम्न प्रकार पाया जाता है]

अहो [पुरुषोत्तमक्षेत्रके] चारों ओर दस योजन क्षेत्र का माहात्म्य !! [कैसा अद्भुत है कि वहाँ रहने वाले] सबको ही, स्वर्गमें निवास करने वाले [देवता भी चतुर्भुज] विष्णु रूप ही समझते हैं। ७७।

गंगा आदि [के समीप] निवास [का समर्थक प्रमाण अथवा उदाहरण] जैसे [भागवत के] प्रथम स्कन्धमें [निम्न प्रकार कहा गया है]—

श्री तुलसीसे मिश्रित श्रीकृष्णके चरण-रजसे पवित्र जलको प्रवाहित करने वाली जो ब्राह्म लोक सहित [सेशान्] दोनों लोकोंको पवित्र करती है उस प्रकारकी तुमको [मरिष्यमाण] मरनेके पूर्व कौन सेवन नहीं करना चाहता है। ७८।

८—अपरिग्रह [यावदर्थानुवर्तिताका समर्थक उदाहरण या प्रमाण] जैसा कि नारदीय पञ्चरात्रमें [कहा है]—

जितने [अर्थ] से अपना निर्वाह हो जाय, अर्थको समझने वाले [भक्त] को उतना ही ग्रहण करना चाहिए। अधिक या कम [ग्रहण करने] से वास्तविक अर्थसे च्युत हो जाता है ७९

९. हरिवासरसम्मानो, यथा ब्रह्मवैवर्ते

सर्वपापप्रशमनं पुण्यमात्यन्तिकं तथा ।
गोविन्दस्मारणं नृणामेकादश्यामुपोषणम् ॥ ८० ॥

१०. धात्र्यश्वत्थादिगौरवं, यथा स्कान्दे—

अश्वत्थस्तुलसी धात्री गोभूमिसुरवैष्णवाः ।
पूजिताः प्रणता ध्याताः क्षपयन्ति नृणामघम् ॥ ८१ ॥

११. अथ श्रीकृष्णविमुखसङ्गत्यागो, यथा कात्यायनसंहितायाम्—

वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम् ॥ ८२ ॥

विष्णुरहस्ये च—

आलिङ्गनं वरं मन्ये व्यालव्याघ्रजलौकसाम् ।
न सङ्गः शल्ययुक्तानां नानादेवैकसेविनाम् ॥ ८३ ॥

१२-१४. शिष्याद्यननुबन्धित्वादित्रयं, सप्तमे यथा—

---

९ [एकादशी आदि] पवित्र दिवसका सम्मान जैसा कि ब्रह्मवैवर्तपुराणमें [निम्न प्रकारसे दिखलाया गया है]—

एकादशीके दिन उपवासका रखना सब पापोंको नाश करने वाला और अत्यन्त पुण्य-कारक तथा मनुष्योंको भगवानुका स्मरण कराने वाला होता है। ८०।

१०—आमलक और अश्वत्थ आदिके गौरवका [उदाहरण या प्रमाण] जैसा कि स्कन्दपुराणमें [निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है]—

अश्वत्थ [पीपल], तुलसी, आमलकी [धात्री] ब्राह्मण और विष्णुभक्त [वैष्णव] इनकी पूजा करने, इनको प्रणाम करने और इनका ध्यान करनेसे मनुष्योंके पापों का नाश होता है। ८१।

यहाँ तक दस प्रकारके अनुष्ठेय भक्त्यङ्गोंके उदाहरण दिए गए हैं। अब जिनको अपनाना चाहिए या नहीं करना चाहिए इस प्रकारके दस भक्त्यङ्गोंके उदाहरण आगे देते हैं।

११—अब भगवानुके विरोधियोंके संगके त्यागका [उदाहरण या प्रमाण] जैसे कात्यायनसंहितामें [निम्न श्लोकमें कहा गया है]—

अग्निकी ज्वालाओंके पिंजड़ेके भीतर रहना अच्छा है किन्तु भगवानुके ध्यानसे विमुख पुरुषोंके साथ रहनेका दुःख उठाना अच्छा नहीं है।

विष्णुरहस्यमें भी [भगवानुसे विमुख नास्तिक लोगोंके संगके त्यागका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

ज्वाला, व्याघ्र और [मकर आदि] जल-जन्तुओंका आलिंगन [करके मर जाना] अच्छा है किन्तु कण्टकयुक्त ['शल्यमत्र—तत्तद्देव सेवावासना' इति दुर्गमसङ्गमनीकारः अर्थात् नाना देवोंकी सेवाकी वासनासे युक्त] अनेक देवोंकी उपासनामें लगे हुए [अविश्वासियों] का सहवास अच्छा नहीं है। ८३।

१२-१४ शिष्यादिके संग्रह भाव आदि तीन [के उदाहरण] जैसे [भागवतके] सप्तम स्कन्ध] में [निम्न प्रकार कहा गया है

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान् नैवाभ्यसेद्बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित् ॥८४॥

१५. व्यवहारेऽप्यकार्पण्यं, यथा पाद्मे—

अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादनसाधने ।
अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिमेव धिया स्मरेत् ॥ ८५ ॥

१६. शोकाद्यवशवर्त्तिता, यथा तत्रैव—

शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम् ।
कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्त्तिसम्भावना भवेत् ॥ ८६ ॥

१७. अन्यदेवानवज्ञा, यथा तत्रैव—

हरिरेव सदाऽऽराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः ।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन ॥ ८७ ॥

१८. भूतानुद्वेगदायिता, यथा महाभारते—

पितेव पुत्रं करुणो नोद्वेजयति यो जनम् ।
विशुद्धस्य हृषीकेशस्तूर्णं तस्य प्रसीदति ॥ ८८ ॥

१९. सेवानामपराधवर्जनं, यथा वाराहे पाद्मे च—

ममार्चनापराधा ये कीर्त्यन्ते वसुधे ! मया ।
वैष्णवेन सदा ते तु वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ ८९ ॥

न शिष्योंका संग्रह करे, न अधिक ग्रंथोंका अध्ययन करे, न व्याख्याओंका करे और न कहीं [सांसारिक बड़े] कामोंको आरम्भ करे। ८४।

१५—व्यवहारमें कृपणता [दीनता] न दिखलाना जैसे कि पद्मपुराणमे श्लोक द्वारा बतलाया गया है]—

खाने-पहिननेके साधनोंके न प्राप्त होने अथवा नष्ट हो जानेपर भी स्थिर बुद्धि भगवान्‌का भजन करे। ८५।

१६—शोकादिके वशवर्ती न होना जैसा कि वहीं [पद्मपुराणके निम्नलिखित में स्पष्ट रूपसे कहा गया है]—

जिनका मन शोक और क्रोध आदिके भावोंसे भरा हुआ है उनमें भगवान् [की के स्फुरणकी सम्भावना कैसे हो सकती है। ८६।

१७—अन्य देवोंकी अवज्ञा न करनेका [उदाहरण या प्रमाण] जैसा कि यही पुराणमें निम्न प्रकार कहा गया है]—

सब देवताओंके ईश्वर [इन्द्र] के भी ईश्वर भगवान् [कृष्ण] की ही सदा आ करनी चाहिए किन्तु [फिर भी] ब्रह्मा, रुद्र आदि अन्य देवताओंकी अवज्ञा भी क करनी चाहिए। ८७।

१८—प्राणियोंको न सताना जैसा कि महाभारतमें [निम्न प्रकारसे कहा गय

दयालु पिता जैसे पुत्रको नहीं सताता है इस प्रकार जो किसी प्राणीको कष्ट न है उस विशुद्धात्माके ऊपर भगवान् बहुत जल्दी प्रसन्न होते हैं ८८।

१९—सेवामें त्रुटियोंके बचानेका [ ] जैसा कि और पद्

मुच्यते हरिसंश्रय

हरेरप्यपराधान् यः कुर्य्याद् द्विपदपांशुलः ॥ ९० ॥

नामाश्रयः कदाचित्स्यात्तरत्येव स नामतः ।

नाम्नोऽपि सर्वसुहृदो ह्यपराधात्पतत्यधः ॥ ९१ ॥

२०. तन्निन्दाऽद्यसहिष्णुः, यथा श्रीदशमे—

निन्दां भगवतः शृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा ।

ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः ॥९२॥

२१. अथ वैष्णवचिह्नधृतिः, यथा पाद्मे—

ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्ष्यमालाः

ये बाहुमूलपरिचिह्नितशङ्खचक्राः ।

ये वा ललाटफलके लसदूर्ध्वपुण्ड्राः,

ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति ॥ ९३ ॥

२२. नामाक्षरधृतिः, यथा स्कान्दे—

मे [निम्न प्रकारसे कहा गया है]—

हे वसुधे ! भगवान्‌की अर्चनाके जिन दोषोंका निर्देश मैंने किया है भगवान्‌के भक्तको [वैष्णवेन] उनसे सदा प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिए । ८९ ।

सब प्रकारके अपराधोंको करनेवाला भी भगवान्‌की शरणमें आनेपर [उन दोषों और अपराधोंसे] मुक्त हो जाता है । किन्तु जो भगवान् [की भक्ति] में भी त्रुटि करे वह [मनुष्य नहीं है अपितु] नीच पशु मात्र है । ९० ।

कभी भी [भगवान्‌के] नामका [अर्थात् भगवद्भक्तिका] आश्रय ले किन्तु वह नामके प्रभावसे तर ही जाता है । सबके हितकारी [अयाचितोपकारी सुहृद्] नामका भी अपराध करनेसे [अर्थात् भगवद्भक्तिमें प्रमाद करनेसे] नीचे पतित हो जाता है । ९१ ।

२०—उन [भगवान्] की निन्दा आदिकी असहिष्णुता [का उदाहरण या प्रमाण] जैसा कि [भागवतके] दशम [स्कन्धमें] में [निम्न प्रकार कहा गया है]—

भगवान्‌की अथवा उनके भक्तकी निन्दाको सुनकर जो वहाँसे हट नहीं जाता है वह धर्मसे च्युत होकर पतित हो जाता है । ९२ ।

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने दस अनुष्ठेय और दस प्रकारके परित्याज्य कुल बीस मुख्य भक्त्यंगोंका वर्णन कर दिया है । अब इसके आगे गौण भक्त्यंगोंके उदाहरण देते हैं ।

२१—अब वैष्णवोंके चिन्होंका धारण [का उदाहरण देते हैं] जैसा कि पद्मपुराणमें [निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है]—

जो कण्ठमें तुलसी और कमलगट्टोंकी माला धारण करते हैं, जिनकी भुजाओंपर शंख चक्रके चिन्ह अंकित हैं अथवा जो मस्तकके ऊपर ऊँचा तिलक लगाते हैं वे वैष्णव जगत्‌को शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं । ९३ ।

२२—नामाक्षरका धारण करना । जैसाकि स्कन्द पुराणमें [निम्न श्लोकके द्वारा प्रतिपादन किया गया है

हरिनामाक्षरयुतं भाले गोपीमृदङ्कितम् ।
तुलसीमालिकोरस्कं स्पृशेयुर्न यमोद्भटाः ॥ ९४ ॥

पाद्मे च—

कृष्णनामाक्षरैर्गात्रमङ्कयेच्चन्दनादिना ।
स लोकपावनो भूत्वा तस्य लोकमवाप्नुयात् ॥९५॥

२३. निर्माल्यधृतिः, यथैकादशे—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि ॥९६॥

स्कान्दे च—

कृष्णोत्तीर्णं तु निर्माल्यं यस्याङ्गं स्पृशते मुने ! ।
सर्वरोगैस्तथा पापैर्मुक्तो भवति नारद ! ॥९७॥

२४. अग्रे ताण्डवं, यथा द्वारकामाहात्म्ये—

यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैर्बहुसुभक्तितः ।
स निर्दहति पापानि मन्वन्तरशतेष्वपि ॥९८॥

तथा च श्री नारदोक्तौ—

नृत्यतां श्रीपतेरग्रे तालिकावादनैर्भृशम् ।
उड्डीयन्ते शरीरस्थाः सर्वे पातकपक्षिणः ॥९९॥

२५. दण्डवन्नतिः, यथा नारदीये—

हरिके नामाक्षरसे युक्त और मस्तकपर गोपीचन्दन लगाए हुए तथा वक्षस्थलपर तुलसीकी माला डालनेवाले [भक्त] को यमके भट स्पर्श नहीं करते हैं । ९४ ।

और पद्मपुराणमें भी [कहा है]—

चन्दन आदिके द्वारा जो अपने शरीरपर कृष्णके नामके अक्षरोंको लिखे वह संसारको पवित्र करनेवाला बनकर उसके लोक [स्वर्ग लोक] को प्राप्त होता है । ९५ ।

२३—निर्माल्यका धारण । जैसाकि ग्यारहवें स्कन्धमें [लिखा है]—

आपके द्वारा उपभुक्त गन्ध, वस्त्र, अलङ्कार आदिसे अलंकृत और आपके उच्छिष्टका भोजन करनेवाले हम आपके दास आपकी मायाको जीत लें [यह हमारी कामना है] ।९६

और स्कन्दपुराणमें [भी लिखा है कि]—

हे मुने ! कृष्णके ऊपरसे उतारी हुई माला जिसके शरीरका स्पर्श करती है, हे नारद ! वह सब रोगों और सब पापोंसे छूट जाता है । ९७ ।

२४—अब [कृष्णके सामने] नाचनेका [उदाहरण] जैसाकि द्वारकामाहात्म्यमें [निम्न प्रकार कहा गया है]—

जो प्रसन्न होकर भक्तिपूर्वक अनेक भावोंसे [कृष्णके सामने] नाचता है वह सैकड़ों मन्वन्तरोंके पापोंका नष्ट कर देता है । ९८ ।

और श्री नारदकी उक्तिमें भी [कहा है कि]—

ताली आदि बजाते हुए कृष्ण भगवान्‌के सामने नाचनेवालोंके शरीरमें रहनेवाले सारे पातक रूपी पक्षी उड़ जाते हैं ९९

एकोऽपि कृष्णाय कृतः प्रणामो, दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥१००॥

२६. अभ्युत्थानं, यथा ब्रह्माण्डे—

यानारूढं पुरः प्रेक्ष्य समायान्तं जनार्दनम्।
अभ्युत्थानं नरः कुर्वन् पातयेत्सर्वकिल्बिषम् ॥१०१॥

२७. अथानुव्रज्या, यथा भविष्योत्तरे—

रथेन सह गच्छन्ति पार्श्वतः पृष्ठतोऽग्रतः।
विष्णुनैव समाः सर्वे भवन्ति श्वपचादयः ॥१०२॥

२८. स्थाने गतिः—

स्थानं तीर्थं गृहं चास्य तत्र तीर्थे गतिर्यथा।

पुराणान्तरे—

संसारमरुकान्तारनिस्तारकरणक्षमौ ।
श्लाघ्यौ तावेव चरणौ यौ हरेस्तीर्थगामिनौ ॥१०३॥

गृहे यथा हरिभक्तिसुधोदये—

प्रविशन्नालयं विष्णोर्दर्शनार्थं सभक्तिमान्।
न भूयः प्रविशेन्मातुः कुक्षिकारागृहं सुधीः ॥१०४॥

२५—दण्डवत् नमस्कार [का उदाहरण] जैसे नारदीय [पंचरात्र] में [निम्न प्रकार कहा है]—

कृष्णको किया जानेवाला एक भी प्रणाम दस अश्वमेध यागोंके [बाद किए जाने अवभृत] स्नानोंसे बढ़कर है। क्योंकि दश अश्वमेध यागोंका करने वाला फिर जन्म [और मरण] को प्राप्त होता है किन्तु कृष्णको प्रणाम करने वाला फिर दुबारा जन्म नहीं लेता है [मुक्त हो जाता है]। १००।

२६—अभ्युत्थान [का उदाहरण] जैसे ब्रह्माण्ड पुराणमें [कहा गया है कि]—

सामनेसे यानपर चढ़े हुए भगवान्‌की सवारीको आता हुआ देखकर उठकर अगवानी करने वाला मनुष्य अपने सब पापोंको नष्ट कर देता है। १०१।

२७—अनुव्रज्या [का उदाहरण] जैसे भविष्योत्तर पुराणमें [कहा है कि]—

[भगवानकी सवारीके] रथके साथ आगे-पीछे अगल-बगल चलने वाले चाण्डाल आदि सब विष्णुके समान ही होते हैं। १०२।

२८—स्थानमें गमन करना—

'स्थान' से एक तीर्थ और [दूसरे इनके गृह अर्थात्] मन्दिर इन दोका ग्रहण होता है। उनमेंसे तीर्थमें गतिका [उदाहरण] जैसे—

दूसरे पुराणमें [लिखा है]—

संसार-रूप मरु-कान्तार [रेगिस्तान] के पार करनेमें समर्थ वे ही प्रशंसनीय चरण हो सकते हैं जो भगवान्‌के तीर्थमें पहुंचे हुए हैं १०३

२१   गति [का प्रमाण या उदाहरण] जैसाकि   [कहा

२६. परिक्रमा, यथा तत्रैव—

विष्णुं प्रदक्षिणीकुर्वन् यस्तत्रावर्त्तते पुनः ।
तदेवावर्त्तनं तस्य, पुनर्नावर्त्तते भवे ॥१०५॥

स्कान्दे च चातुर्मास्यमाहात्म्ये—

चतुर्वारं भ्रमीभिस्तु जगत्सर्वं चराचरम् ।
क्रान्तं भवति विप्राग्र्य ! तत्तीर्थगमनाधिकम् ॥१०६॥ इति ।

३०. अथार्चनम्—

शुद्धिन्यासादिपूर्वाङ्गकर्मनिर्वाहपूर्वकम् ॥ ४५ ॥
अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रेणोपपादनम् ।

तद्यथा श्रीदशमे—

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् ।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥१०७॥

विष्णुरहस्ये—

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि ।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥१०८॥ इति ।

३१. परिचर्या—

माताकी कोख-रूपी कारागारमें प्रविष्ट नहीं होता है । १०४ ।

२९—परिक्रमा [का उदाहरण] जैसे वहीं [अर्थात् हरिभक्तिसुधोदयमें कहा है]

विष्णुकी प्रदक्षिणा करते हुए जो वहाँ का चक्कर लगाता है वही उसका [अन्तिम] चक्कर है फिर वह संसारके चक्रमें नहीं आता है [मुक्त हो जाता है] । १०५ ।

और स्कन्दपुराणमें भी चातुर्मास्य-माहात्म्यमें [परिक्रमाके महत्त्वका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

हे विप्रवर ! [मन्दिरमें] चार बार चक्कर लगाने [परिक्रमा करने] से चराचर सहित सारे संसारकी परिक्रमा हो जाती है । इसलिए वह [परिक्रमा] तीर्थ-गमनसे भी अधिक [श्रेष्ठ] है । १०६ ।

३०—अर्चन—

[भौतिक] शुद्धि तथा [मातृका] न्यास आदि पूर्वाङ्गोंका सम्पादन करके मन्त्रों द्वारा [पूजन-सम्बन्धी उपचारों अर्थात्] विधियोंका सम्पादन 'अर्चन' कहलाता है ॥ ४५ ॥

जैसाकि [भागवतके] दशम [स्कन्ध] में [लिखा है]—

उनके चरणोंकी अर्चना पुरुषोंकेलिए स्वर्ग और अपवर्गके आनन्दों तथा पृथ्वीकी सारी सम्पत्तियों और समस्त सिद्धियोंका मूल कारण होती है । १०७ ।

विष्णुरहस्यमें [भी इसका महत्त्व प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि]—

पृथिवी पर जो मनुष्य श्रीविष्णुका अर्चन करते हैं वे विष्णुके नित्य आनन्दमय पदको प्राप्त होते हैं । १०८ ।

३१ [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]

परिचर्य्या तु सेवोपकरणादिपरिष्क्रिया ॥४६॥
तथा प्रकीर्णकच्छत्रवादित्राद्यैरुपासना ।

यथा नारदीये—

मुहूर्त्तं वा मुहूर्त्तार्द्धं यस्तिष्ठेद् हरिमन्दिरे ।
स याति परमं स्थानं किमु शुश्रूषणे रतः ॥१०९॥

चतुर्थे च—

यत्पादसेवाऽभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरिद् ॥११०॥ इति ।

अङ्गानि विविधान्येव स्युः पूजापरिचर्य्ययोः ॥४७॥
न तानि लिखितान्यत्र ग्रन्थबाहुल्यभीतितः ॥

३२. अथ गीतं यथा लैङ्गे—

ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गायमानोऽनिशं परम् ।
हरेः सालोक्यमाप्नोति रुद्रगानाधिकं भवेद् ॥१११॥ इति,

३३. सङ्कीर्त्तनम्—

नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्त्तनम् ॥४८॥

सेवाके उपकरण आदिकी शुद्धि [एक प्रकारकी परिचर्या कहलाती है] और प्रकीर्णक छत्र, वाद्य आदिके द्वारा उपासना [दूसरे प्रकारकी परिचर्या कहलाती है । [इस प्रकार परिचर्याके दो भेद होते हैं] । ॥ ४६ ॥

जैसाकि नारदीय [पंचरात्र] में [कहा है]—

जो केवल एक मुहूर्त अथवा आधे मुहूर्तको भगवान्के मन्दिरमें रहता है वह भी परम-पदको पा जाता है तब सेवामें लगे हुएकी तो बात ही क्या कही जाय । १०९ ।

और [भागवतके] चतुर्थ [स्कन्ध] में भी [इस विषयका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

[विष्णुके] पैरके अँगूठेसे निकली हुई [गंगा] नदीके समान प्रतिदिन बढ़ती हुई जिसके चरणोंकी सेवाकी अभिरुचि तपस्वियोंके सम्पूर्ण जन्मोंके संगृहीत बुद्धिके मलोंको तुरन्त ही नष्ट कर देती है । ११० ।

इन पूजा और परिचर्या दोनोंके विविध अङ्ग हो सकते हैं किन्तु ग्रन्थ-विस्तारके भय से उनको यहाँ नहीं लिखा गया है ॥ ४७ ॥

३२—अब गीत [का उदाहरण देते हैं] जैसाकि लिङ्गपुराणमें [लिखा है]—

रुद्रगानसे भी बढ़कर वासुदेव नामक परम गानको निरन्तर [अहर्निश] गानेवाला ब्राह्मण विष्णुके समान लोक [सालोक्य मुक्ति] को प्राप्त करता है । १११ ।

३३—संकीर्तन [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

[भगवान्के नाम तथा लीला आदिका ऊँचे स्वरमें कथन करना कीर्तन कहलाता] ॥ ४८ ॥

तत्र नामकीर्त्तनं, यथा विष्णु धर्मे—

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्त्तते ।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र ! महापातककोटयः ॥११२॥

लीलाकीर्त्तनं, यथा सप्तमे—

सोऽहं परस्य सुहृदः परदेवताया लीलाकथास्तव नृसिंह ! विरिञ्चिगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥११३॥

गुणकीर्त्तनं, यथा प्रथमे—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥११४॥

३४. जपः—

मन्त्रस्य सुलघूच्चारो जप इत्यभिधीयते ॥

यथा पाद्मे—

कृष्णाय नम इत्येष मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ।
भक्तानां जपतां भूयः स्वर्गमोक्षफलप्रदः ॥११५॥

३५. विज्ञप्तिः यथा स्कान्दे—

हरिमुद्दिश्य यत्किंचित्कृतं विज्ञापनं गिरा ।
मोक्षद्वारार्गलामोक्षस्तेनैव विहितस्तव ॥११६॥ इति,

उनमेंसे नामकीर्तन [का उदाहरण] जैसे विष्णुधर्ममें [कहा है]—

कृष्ण यह मङ्गलकारी नाम जिसकी जिह्वापर आता रहता है [अर्थात् जो कृष्णके नामका जाप करता है] उसके करोड़ों महापातक भस्मीभूत हो जाते हैं । ११२ ।

लीलाकीर्तन [का उदाहरण] जैसे [भागवतके] सप्तम स्कन्धमें [कहा गया है कि]—

हे नृसिंह ! आपके चरण-कमलोंमें वास करनेवाले [भक्त रूप] हंसोंका संग करनेवाला मैं, ब्रह्माके द्वारा गाए जाने वाली परम सुहृत् [अयाचितोपकारी सुहृत्] और परम देवतारूप आपकी लीला कथाओंका गान करता हुआ त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे मुक्त होकर शीघ्र ही [संसारसागर को] पार कर जाऊँगा । ११३ ।

गुणोंके कीर्तन [का उदाहरण] जैसे [भागवतके] प्रथम स्कन्धमें [कहा गया है]

यह [उत्तम श्लोक अर्थात्] भगवान्‌के गुणोंका अनुकीर्तन करना मनुष्योंके तपका, स्वाध्यायका, अथवा बुद्धिपूर्वक दिए हुए यज्ञों अथवा सूक्तोंका परिपूर्ण फल है यह बात विद्वानोंने कही है । ११४ ।

३४—जप [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

मन्त्रका जल्दी-जल्दी [अथवा मन्द स्वर से] उच्चारण करना जप कहलाता है ।

जैसा कि पद्मपुराणमें [जपका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

'कृष्णाय नमः' यह मन्त्र सब अर्थोंका सिद्ध करने वाला है । और बार-बार जपने वालोंको स्वर्ग तथा मोक्षरूप फलको देनेवाला है । ११५ ।

३५ विज्ञप्ति [का उदाहरण] जैसे [कहा है

भगवान्‌को लक्ष्य करके वाणीसे जो कुछ विज्ञापना प्रार्थना] की जाती है उसीसे

सम्प्रार्थनात्मिका दैन्यबोधिका लालसामयी ॥४९॥
इत्यादिर्विविधा धीरैः कृष्णे विज्ञप्तिरीरिता ॥

तत्र संप्रार्थनात्मिका, यथा पाद्मे—

युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवतौ यथा ।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि ॥११७॥

दैन्यबोधिका, यथा तत्रैव—

मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा नापराधी च कश्चन ।
परिहारेऽपि लज्जा मे किं ब्रुवे पुरुषोत्तम ! ॥११८॥

लालसामयी, यथा श्रीनारदपञ्चरात्रे—

कदा गम्भीरया वाचा श्रिया युक्तोजगत्पते ! ।
चामरव्यग्रहस्तं मामेवं कुर्विति वक्ष्यसि ॥११९॥ इति,

यथा वा—

कदाऽहं यमुनातीरे नामानि तव कीर्त्तयन् ।
उद्बाष्पः पुण्डरीकाक्ष ! रचयिष्यामि ताण्डवम् ॥१२०॥

३६. स्तवपाठः—

प्रोक्ता मनीषिभिर्गीतास्तवराजादयः स्तवाः ॥५०॥

मोक्षके द्वारकी अर्गलाका मोचन हो जाता है । ११६ ।

विज्ञप्तिके तीन भेद—

१ प्रार्थनात्मिका, २ दैन्यबोधिका और ३ लालसामयी । इस प्रकार विद्वानोंने कृष्ण के प्रति [की जाने वाली] विज्ञप्ति नाना प्रकारकी कही है ॥ ४९ ॥

उनमेंसे सम्प्रार्थनात्मिका विज्ञप्ति [का उदाहरण] जैसे पद्मपुराणमें [निम्न प्रकारसे कही गई है]—

युवतियोंका युवकोंमें अथवा युवकोंका युवतियोंमें जिस प्रकार मन लगता है उसी प्रकार मेरा मन आपमें रमण करे । ११७ ।

दैन्यबोधिका [विज्ञप्तिका उदाहरण] जैसे वहीं [पद्मपुराणमें] निम्न प्रकारसे प्रदर्शित किया गया है]—

हे पुरुषोत्तम ! मेरे समान न कोई और पापी है और न कोई अपराधी है । क्या कहूँ मुझे तो [अपने पर किए दोषारोपणका] परिहार करते भी लज्जा आती है । ११८ ।

लालसामयी [विज्ञप्तिका उदाहरण] जैसे नारदपंचरात्रमें [कहा गया है]—

हे जगत्पते ! लक्ष्मीके साथ विराजमान आप चमर डुलानेमें लगे हुए मुझको अपनी गम्भीर वाणीसे 'ऐसा करो' यह आदेश कब देंगे ? । ११९ ।

अथवा जैसे [लालसामयी विज्ञप्तिका दूसरा उदाहरण निम्न प्रकार है]—

हे कमल-नयन ! आपके नामोंका कीर्तन करता हुआ आनन्दाश्रुओंसे रुद्धनेत्र मैं कब यमुनाके तट पर नाच सकूँगा ? । १२० ।

३६—स्तुति पाठ का लक्षण निम्न प्रकार किया जा सकता है]

गीता और [ ] आदि स्तव [शब्दसे गृहीत होते] हैं । ५० ।

यथा स्कान्दे

श्रीकृष्णस्तवरत्नौघैर्येषां जिह्वा त्वलंकृता ।
नमस्या मुनिसिद्धानां वन्दनीया दिवौकसाम् ॥१२१॥

नारसिंहे च—

स्तोत्रैः स्तवैश्च देवाग्रे यः स्तौति मधुसूदनम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥१२२॥

३७. अथ नैवेद्यास्वादो, यथा पाद्मे—

नैवेद्यमन्नं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम् ।
योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम् ॥१२३॥

३८. पाद्यास्वादो, यथा तत्रैव—

न दानं न हविर्येषां स्वाध्यायो न सुरार्चनम् ।
तेऽपि पादोदकं पीत्वा प्रयान्ति परमां गतिम् ॥ १२४॥

३९. अथ धूपसौरभ्यं, यथा हरिभक्तिसुधोदये—

आघ्राणं यद्धरेर्दत्तधूपोच्छिष्टस्य सर्वतः ।
तद्भवव्यालदष्टानां नस्यं कर्म विषापहम् ॥१२५॥

जैसे स्कन्दपुराणमें [स्तवका वर्णन निम्न प्रकारसे किया है]—

जिनकी जिह्वा श्रीकृष्णके स्तवरत्नोंके समूहसे अलंकृत है वे मुनियों और सिद्धोंके नमस्कार-योग्य और देवताओंके वन्दनीय है । १२१ ।

और नृसिंहपुराणमें [स्तवका माहात्म्य निम्न प्रकार दिखलाया है]

देवमूर्तिके सामने स्तवों और स्तोत्रोंसे जो कृष्णकी स्तुति करता है वह सब पापोंसे विमुक्त होकर विष्णुलोक को प्राप्त होता है । १२२ ।

इस श्लोकमे 'स्तव' और 'स्तोत्र' दोनों शब्दोंका प्रयोग किया गया है वैसे ये दोनों शब्द स्तुतिपरक ही है । किन्तु इनमें थोड़ा-सा सूक्ष्म भेद है । 'स्तोत्र' शब्द करण प्रधान होने से पूर्वसिद्ध स्तुतियोंके लिए प्रयुक्त होता है और 'स्तव' शब्द भाव प्रधान होनेसे स्वीकृत स्तुतियोंके लिए प्रयुक्त होता है यह सूक्षम भेद दुर्गमसंगमनीकारने दिखलाया है । किन्तु ऊपर 'प्रोक्ता मनीषिभिर्गीतास्तवराजादयः स्तवाः' मे इस प्रकारका स्पष्ट भेद नहीं किया है ।

३७—नैवेद्यका आस्वादन जैसेकि पद्मपुराणमें [निम्न प्रकार दिखलाया है]

मुरारि [की मूर्ति] के सामने तुलसीसे मिश्रित और विशेष रूपसे चरणामृतसे भीगा हुआ नैवेद्यका अन्न जो नित्य खाता है वह करोड़ों यज्ञोंके पुण्यको प्राप्त करता है । १२३ ।

३८—चरणामृतके आस्वादनका [उदाहरण] जैसे वहीं [पद्मपुराणमे कहा है]—

जो न दान करते हैं न यज्ञ, न स्वाध्याय करते हैं और न देवताओंकी अर्चना, वे भी चरणामृतका पान करके परमगति [मोक्ष] को प्राप्त हो जाते हैं । १२४ ।

३९ धूपसौरभ का उदाहरण देते हैं जैसा कि कहा गया

माल्यसौरभ्य यथा तन्त्रे

प्रविष्टे नासिकारन्ध्रे हरेर्निर्माल्यसौरभे ।
सद्यो विलयमायाति पापपञ्जरबन्धनम् ॥१२६॥

अगस्त्यसंहितायां च—

आघ्राणं गन्धपुष्पादेरर्चितस्य तपोधन ! ।
विशुद्धिः स्यादनन्तस्य घ्राणस्येहाभिधीयते ॥१२७॥

४०. अथ श्रीमूर्त्तेः स्पर्शनं, यथा विष्णुधर्मोत्तरे—

स्पृष्ट्वा विष्णोरधिष्ठानं पवित्रः श्रद्धयाऽन्वितः ।
पापबन्धैर्विनिर्मुक्तः सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥१२८॥

४१. अथ श्रीमूर्त्तिदर्शनं, तथा वाराहे—

वृन्दावने तु गोविन्दं ये पश्यन्ति वसुन्धरे ! ।
न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम् ॥१२९॥

४२. आरात्रिकदर्शनं, यथा स्कान्दे—

कोटयो ब्रह्महत्यानामगम्यागमकोटयः ।
दहत्यालोकमात्रेण विष्णोः सारात्रिकं मुखम् ॥१३०॥

उत्सवदर्शनं, यथा भविष्योत्तरे—

माल्यका सौरभ जैसाकि तन्त्रमें [निम्न प्रकारसे कहा गया है]—

हरिके निर्माल्य-सौरभके नाकके छिद्रमें प्रवेश करते ही पापके पिंजड़ेका बन्धन तुरन्त नष्ट हो जाता है। १२६।

और अगस्त्य संहितामें भी [माल्यसौरभके महत्त्वका प्रतिपादन निम्न प्रकारसे किया है]—

पूजित कृष्णके गन्ध, पुष्प आदिका आघ्राण नाकको शुद्ध करने वाला होता है। हे धन ! उसका यहाँ कथन किया जा रहा है। १२७।

४०—श्रीमूर्तिके स्पर्शका [उदाहरण] जैसे विष्णुधर्मोत्तरमें [निम्न प्रकारसे उसके त्वका वर्णन किया गया है]—

पवित्र और श्रद्धासे युक्त [भक्त] विष्णुके आसनको स्पर्श करके पापके बन्धनोंसे छूटकर कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। १२८।

४१—श्रीमूर्तिका दर्शन जैसे कि वराह-पुराणमें [उसका महत्त्व निम्न प्रकारसे कहा है]—

हे वसुन्धरे ! जो वृन्दावनमें कृष्ण [की मूर्ति] का दर्शन करते हैं, वे यमपुरको नहीं है अपितु पुण्यकारियोंकी गतिको प्राप्त करते हैं। १२९।

४२—आरतीका दर्शन जैसे स्कन्द-पुराणमें [निम्न प्रकार उसका महत्त्व कहा गया है]—

विष्णुके आरती सहित मुखके दर्शनमात्रसे करोड़ों ब्रह्म-हत्याओं और करोड़ों अगम्या- ो [के पापों] का नाश हो जाता है। १३०।

उत्सव दर्शन जैसाकि भविष्योत्तर-पुराणमें [कहा है]—

रथस्थं ये निरीक्षन्ते कौतुकेनापि केशवम् ,
देवतानां गणाः सर्वे भवन्ति श्वपचादयः ॥१३१॥

आदिशब्देन पूजादर्शनं, यथा आग्नेये—

पूजितं पूज्यमानं वा यः पश्येद् भक्तितो हरिम् ।
श्रद्धया मोदमानस्तु सोऽपि योगफलं लभेत ॥१३२॥

४३. अथ श्रवणं—

श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत् ॥

तत्र नामश्रवणं, यथा गारुडे—

संसारसर्पसंदष्टनष्टचेष्टैकभेषजम् ।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः ॥१३३॥

चरितश्रवणं, यथा चतुर्थे—

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप ! गाढकर्णैस्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥१३४॥

गुणश्रवणं, यथा द्वादशे—

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥१३५॥

जो चाण्डाल आदि कौतुकमें भी रथपर बैठे हुए कृष्ण [की सवारी] को देख लेते हैं वे सब देवगण बन जाते हैं। १३१।

'आदि' शब्दसे पूजादर्शन [का भी ग्रहण करना चाहिए] जैसाकि अग्निपुराणमें [उसका वर्णन निम्न प्रकारसे किया गया है]—

जो पूजा किए हुए [अर्थात् जिनकी पूजा की जा चुकी है] अथवा पूजा किए जाते समय कृष्ण [की मूर्ति] को देखता है श्रद्धासे प्रसन्न हुआ वह भी योगके फलको प्राप्त करता है। १३२।

४३—अब श्रवण [का लक्षण करते हैं]—

[कृष्णके] नाम, चरित्र और गुणादिके सुननेको 'श्रवण' कहते हैं।

उनमेंसे नामश्रवण [का उदाहरण] जैसाकि गरुड़पुराणमें [कहा है]—

संसार-रूप सर्पसे दष्ट होनेके कारण जिसकी चेतना नष्ट हो गई है [जो बेहोश हो गया है] वह भी 'कृष्ण' इस वैष्णव मन्त्रको सुनकर मुक्त हो जाता है। १३३।

चरित्रश्रवण [का उदाहरण] जैसे [भागवतके] चतुर्थ [स्कन्ध] में [उसका माहात्म्य निम्न प्रकारसे कहा गया है]—

उसमें अत्यन्त शब्दायमान मधुभित् कृष्णके चरित्रामृतकी नदियाँ चारों ओरसे बहती हैं जो अतृप्त होकर उनका पान करते हैं उनको भूख-प्यास, भय-शोक और मोह स्पर्श नहीं कर पाते हैं। १३४।

गुणश्रवण [का उदाहरण] जैसे द्वादश स्कन्धमें—

अमङ्गलका नाश करने वाला जो कृष्णके गुणोंका गान निरन्तर होता है। कृष्णमें अमल भक्तिको चाहने वाला उसीको नित्य नियमसे सुने। १३५।

४४. अथ तत्कृपेक्षणं, यथा श्रीदशमे—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥१३६॥

४५. अथ स्मृति—

यथा कथञ्चिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरुच्यते ॥५१॥

यथा विष्णुपुराणे—

स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते ।
पुरुषस्तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम् ॥१३७॥

यथा वा पाद्मे—

प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम स्मरतां नृणाम् ।
सद्यो नश्यन्ति पापौघा नमस्तस्मै चिदात्मने ॥१३८॥

४६. अथ ध्यानं—

ध्यानं रूपगुणक्रीडासेवादेः सुष्ठु चिन्तनम् ॥

तत्र रूपध्यानं, यथा नारसिंहे—

भगवच्चरणद्वन्द्वध्यानं निर्द्वन्द्वमीरितम् ।
पापिनोऽपि प्रसङ्गेन विहितं सुहितं परम् ॥१३९॥

४४—उनकी कृपाका दर्शन जैसेकि बारहवें स्कन्धमें [कहा है]—

अपने कर्मोंके फलको भोगता हुआ, और आपकी कृपाको देखता हुआ [आपकी कृपाकी प्रतीक्षा करता हुआ] जो मनसे, वाणीसे और शरीरसे आपको नमस्कार करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता है वही मुक्तिका अधिकारी [दयाभाक्] होता है । १३६ ।

४५—आगे स्मृति [का लक्षण निम्न प्रकारसे करते हैं]—

जिस किसी प्रकारसे [संस्कार द्वारा] मनके साथ [कृष्णका] सम्बन्ध 'स्मृति' कहलाता है ॥ ५१ ॥

जैसाकि विष्णुपुराणमें [स्मृतिका महत्त्व कहा है]—

जिनका स्मरण करनेपर पुरुष समस्त कल्याणोंका पात्र बन जाता है मैं उन अजन्मा नित्य भगवान् [हरि] की शरणमें जाता हूँ । १३७ ।

अथवा जैसा पद्मपुराणमें [स्मरणका महत्त्व निम्न प्रकार से दिखलाया है]—

[प्रयाणे अर्थात्] मृत्युके समय और [अप्रयाणे अर्थात्] जीवनकालमें जिनके नामका स्मरण करने वाले मनुष्योंके पापोंका समूह तुरन्त ही नष्ट हो जाता है उन चैतन्यस्वरूप [भगवान्] को नमस्कार है । १३८ ।

४६—ध्यान [का लक्षण निम्न प्रकार किया गया है]—

[भगवान्के] रूप, गुण और क्रीडा तथा सेवा आदिका भली प्रकारसे चिन्तन 'ध्यान' [कहलाता] है ।

उनमेंसे रूप-ध्यान [का वर्णन] जैसा कि नृसिंह-पुराणमें [निम्न प्रकारसे किया गया है]—

भगवान्के चरण-युगलका ध्यान निर्द्वन्द्व [अनुपम अथवा] दुःखोंसे रहित कहा गया है जिसके सेवनसे पापियोंका भी परम सुहित होता है १३९

गुणध्यानं, यथा विष्णुधर्मे—

ये कुर्वन्ति सदा भक्त्या गुणानुस्मरणं हरेः ।
प्रक्षीणकलुषौघास्ते प्रविशन्ति हरेः पदम् ॥१४०॥

क्रीडाध्यानं, यथा पाद्मे—

सर्वमाधुर्य्यसाराणि सर्वाद्भुतमयानि च ।
ध्यायन् हरेश्चरित्राणि ललितानि विमुच्यते ॥१४१॥

सेवाध्यानं, यथा पुराणान्तरे—

मानसेनोपचारेण परिचर्य्य हरिं सदा ।
परे वाङ्मनसागम्यं तं साक्षात् प्रतिपेदिरे ॥१४२॥

४७. अथ दास्यं—

दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्य्यमपि सर्वथा ॥५२॥

तत्राद्यं यथा स्कान्दे—

तस्मिन्समर्पितं कर्म स्वाभाविकमपीश्वरे ।
भवेद्भागवतं[1] कर्म तत्कर्म किमुतार्पितम् ॥१४३॥ इतिः

गुणोंके ध्यान [का उदाहरण] जैसा कि विष्णुधर्ममें [निम्न प्रकारसे उसका महत्त्व बतलाया गया है]—

जो लोग सदा भक्तिपूर्वक भगवान्‌के गुणोंका स्मरण करते हैं समस्त पापोंसे रहित होकर वे मुक्तिको प्राप्त करते हैं । १४० ।

क्रीडा-ध्यान [का उदाहरण] जैसाकि पद्मपुराणमें [निम्न प्रकारसे उसके महत्त्वका वर्णन किया गया है]—

सम्पूर्ण रूपसे माधुर्यसे भरे हुए, सकल आश्चर्योंसे परिपूर्ण, कृष्णके सुन्दर चरित्रोंका ध्यान करता हुआ [मनुष्य] मुक्तिको प्राप्त करता है । १४१ ।

सेवा-ध्यान [का उदाहरण] जैसा कि दूसरे पुराणमें [निम्न प्रकारसे दिया है]

दूसरे लोगोंने वाणी और मनके अगोचर उन [भगवान्] को केवल मानस उपचारोंसे सेवा करके उनका साक्षात्कार प्राप्त कर लिया । १४२ ।

४७—आगे दास्य [का लक्षण इस प्रकार करते हैं]

[अपने समस्त] कर्मोंका उनको अर्पण कर देना और सर्वथा उनका किंकर-भाव [दो प्रकारका] दास्य कहा जाता है । ५२ ।

उनमेंसे प्रथम [प्रकारके दास्यका उदाहरण] जैसाकि स्कन्द-पुराणमें [उसका महत्त्व निम्न प्रकार कहा गया है]—

उनको समर्पित किया हुआ स्वाभाविक [साधारण लौकिक] कर्म भी भागवत-कर्म बन जाता है तब [जप, ध्यान, अर्चन आदि रूप] उनसे ही सम्बद्ध, अर्पित किए हुए कर्म की तो बात ही क्या कही जाय । १४३ ।

इस उदाहरणमें 'स्वाभाविक' और 'तत्कर्म' दो प्रकारके कर्मोंका वर्णन किया गया है। इनमें उनमेंसे स्वाभाविक कर्मोंमेंसे केवल भद्र शुभ कर्मोंका ग्रहण होता है और

1 धर्म पाठ ठीक नहीं था ।

कर्म स्वाभाविकं भद्रं जपध्यानार्चनादि च ॥
इतीदं द्विविधं कृष्णे वैष्णवैर्दास्यमर्पितम् ॥५३॥

मृदुश्रद्धस्य कथिता स्वल्पा कर्माधिकारिता ॥
तदर्पितं हरौ दास्यमिति केश्चिदुदीर्यते ॥५४॥

द्वितीयं यथा नारदीये—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा ।
अखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥१४४॥

४८. अथ सख्यं—

विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम् ॥

तत्राद्यं यथा श्रीमहाभारते—

प्रतिज्ञा तव गोविन्द ! न मे भक्तः प्रणश्यति ।
इति संस्मृत्य संस्मृत्य प्राणान् संधारयाम्यहम् ॥१४५॥

एकादशे च—

'तत्कर्म' पदसे शेष जप आदि सभी भागवत कर्मोंका ग्रहण किया जाता है। इसी बातको अगली कारिकामें कहते हैं—

स्वाभाविक शुभकर्म, तथा जप, ध्यान आदि [रूप दूसरे प्रकारके कर्म] इन दो तरह के कर्मोंका वैष्णवों द्वारा अर्पण 'दास्य' कहलाता है ॥ ५३ ॥

कुछ लोगोंका यह कहना है कि कोमल श्रद्धा वाले [भक्त] केलिए कुछ थोड़ा-सा कर्मका [अर्थात् कर्मकाण्डका] अधिकार कहा गया है। उसी कर्मका अर्पण 'दास्य' कहलाता है ॥ ५४ ॥

इस प्रकार कर्मार्पण रूप दास्यका उदाहरण और वर्णन ऊपर दिया गया। आगे कैङ्कर्य रूप दास्यका उदाहरण देते है—

दूसरा [अर्थात् कैङ्कर्य-रूप दास्यका उदाहरण] जैसे नारदीयमें [उसका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है]—

जिसकी मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान्के दास्यकी इच्छा रहती है वह सब ही अवस्थाओंमें जीवन्मुक्त कहलाता है। १४४।

४८—सख्य [का लक्षण तथा भेद अगली कारिकामें लिखते है]—

[एक] विश्वास और [दूसरा] मित्रवृत्ति दो प्रकारका 'सख्य' कहा जाता है।

उनमेंसे पहला [विश्वास रूप सख्यका उदाहरण] जैसाकि महाभारतमें [निम्न प्रकार उसका वर्णन किया गया है]—

हे गोविन्द ! आपकी यह प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता है इसी बात को याद कर-करके मैं प्राणोंको धारण किए हुए हूँ। [अर्थात् इसी विश्वास पर मैं जी रहा हूँ कि मेरा भी किसी दिन अवश्य ही उद्धार होगा]। १४५।

और ग्यारहवें [स्कन्ध] में भी [कहा है कि]

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्यः ॥१४६॥ इति,

श्रद्धामात्रस्य तद्भक्तावधिकारित्वहेतुता ॥५५॥
अङ्गत्वमस्य विश्वासविशेषस्य तु केशवे ॥

द्वितीयं यथाऽगस्त्यसंहितायाम्—

परिचर्यापराः केचित्प्रासादेषु च शेरते ।
मनुष्येष्विव तं द्रष्टुं व्यवहर्तुं च बन्धुवत् ॥१४७॥ इति,

रागानुगाङ्गताऽस्य स्याद्विधिमार्गानपेक्षणात् ॥५६॥
मार्गद्वयेन चैतेन साध्या सख्यरतिर्मता ॥

४६. अथात्मनिवेदनं—

यथैकादशे—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥१४८॥ इति,

---

तीनों लोकोंका वैभव पानेकेलिए भी, स्थिर स्मृति वाला जो [भक्त], भगवान्‌को प्राप्त न कर सकने वाले [अजितात्म] देवताओंके द्वारा भी जिनकी खोज की जाती है इस प्रकारके भगवान्‌के चरण-कमलोंसे आधे पलके लिए भी विचलित नहीं होता है वही उत्तम वैष्णव है। १४६।

सामान्य श्रद्धामात्रको भगवान्‌की भक्तिमें अधिकारका कारण कहा गया है। और इस [श्रद्धाविशेष रूप] भगवान् [केशवे] में विश्वास विशेषको [भक्तिका] अङ्ग कहा गया है [यह श्रद्धा और विश्वासका अन्तर समझना चाहिए। ५५।

दूसरा [अर्थात् मित्रवृत्ति रूप सख्यका उदाहरण] जैसे अगस्त्यसंहितामें [उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि] —

उन [भगवान् कृष्ण] को मनुष्योंके समान देखने और बन्धुओंके समान [उनके साथ] व्यवहार करनेके लिए कुछ सेवा करने वाले [भक्तगण उनके पास ही] मन्दिरोंके भीतर सोते भी हैं। १४७।

[इस सख्यभावमें] विधिमार्ग [के अनुष्ठान आदि] की आवश्यकता न होनेसे [यह वैधी भक्तिके अन्तर्गत न होकर दूसरे प्रकारकी जो रागानुगा भक्ति कही गई है उस] रागानुगा [भक्ति] का अङ्ग है [ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है। विश्वास और मित्रवृत्ति रूप] इन दो मार्गोंसे सख्य रतिकी सिद्धि होती है ॥ ५६ ॥

४६—आत्मनिवेदन [का उदाहरण] जैसाकि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [कहा गया है]—

जब [निवेदितात्मा होनेके कारण] सब कर्मोंका त्याग कर देने वाले मनुष्यका विशेष उपकार करना चाहता हूं [मे] तब मेरे द्वारा अमृतत्वको प्राप्त कर मेरे स्वरूप [सारूप्य मुक्ति] को प्राप्त हो जाता है १४८

अर्थो द्विधाऽऽत्मशब्दस्य पण्डितैरुपपाद्यते ॥५७॥
देह्यहंताऽऽस्पदः कैश्चिद्देहः कैश्चिन्ममत्वभाक् ॥

तत्र देही यथा यामुनाचार्यस्तोत्रे—

वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा गुणतोऽसानि यथातथाविधः ।
तदयं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पितः ॥१४९॥

देहो यथा भक्तिविवेके—

चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः ।
तथाऽर्पयन् हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात् ॥१५०॥

दुष्करत्वेन विरले द्वे सख्यात्मनिवेदने ॥५८॥
केषांचिदेव धीराणां लभेते साधनार्हताम् ॥

५०. अथ निजप्रियोपहरणं यथैकादशे—

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥१५१॥

५१. अथ तदर्थेऽखिलचेष्टितं यथा पञ्चरात्रे—

['आत्मनिवेदन' में आए हुए] 'आत्म' शब्दका दो प्रकारका अर्थ पण्डित लोग बतलाते हैं। कोई तो अहन्ताके आश्रय देही [अर्थात् शरीरमें रहने वाले आत्मा] को [आत्म शब्दसे ग्रहण करते] और दूसरे ममताके आश्रय देहका [आत्म शब्दसे ग्रहण करते हैं। इन दोनों का ही समर्पण आत्मनिवेदनमें आता है] ॥ ५७ ॥

उनमेंसे देही [के आत्मनिवेदनका उदाहरण] जैसे यामुनाचार्यके स्तोत्रमें [देहीके आत्म निवेदनका उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है]—

शरीर आदिसे मैं जो कोई [ब्राह्मण या शूद्रादि] भी हूँ और गुणोंसे भी मैं जैसा-तैसा कुछ भी हूँ किन्तु मैंने आज ही अपने आपको आपके चरणोंमें समर्पित कर दिया है। १४९।

देह [के आत्मनिवेदनका उदाहरण] जैसाकि 'भक्तिविवेक'में [कहा गया है]—

बेचे हुए पशुके समान [अपने शरीर आदिकी] रक्षाके लिए चिन्ता न करे। इस प्रकार अपने शरीरको भगवान्को समर्पित कर [स्वयं] उसके रक्षण [की चिन्ता] से विरत हो जाय। १५०।

सख्य तथा आत्मनिवेदन ये दोनों [भक्त्यंग] दुष्कर होनेसे बहुत कम पाए जाते हैं और केवल किन्हीं [विशेष] धीरोंके ही साधनाके योग्य होते हैं ॥ ५८ ॥

५०— अपने प्रियका समर्पण [का उदाहरण] जैसे [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [कहा गया है]—

संसारमें जो-जो सबसे अधिक प्रिय हो और जो अपनेको बहुत प्रिय हो उस-उसको भगवान्के [मह्यं अर्पण कर दे इससे वह व्यक्ति या वह वस्तु] अनन्तताको प्राप्त हो जाता

लौकिकी वैदिकी वाऽपि या क्रिया क्रियते मुने !।
हरिसेवाऽनुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता ॥१५२॥ इति,

५२. अथ शरणापत्तिः—
यथा हरिभक्तिविलासे—

तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन्।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः ॥१५३॥

श्रीनारसिंहे च—

त्वां प्रपन्नोऽस्मि शरणं देवदेव ! जनार्दन !।
इति यः शरणं प्राप्तस्तं क्लेशादुद्धराम्यहम् ॥१५४॥

५३. अथ तुलस्याः सेवनं यथा स्कान्दे—

या दृष्टा निखिलाघसङ्घशमनी स्पृष्टा वपुःपावनी
रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्ताऽन्तकत्रासिनी।
प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता
न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः ॥१५५॥

तथा च तत्रैव—

दृष्टा स्पृष्टा तथा ध्याता कीर्तिता नमिता स्तुता।
रोपिता सेविता नित्यं पूजिता तुलसी शुभा ॥१५६॥

हे मुने ! [भगवान्‌की] भक्तिको चाहने वाला लौकिकी या वैदिकी जो भी क्रिया है उसे भगवान्‌की अनुकूलताकी दृष्टिसे ही करे । १५२ ।

५२—अब शरणागति [का उदाहरण आगे देते हैं] जैसा कि 'हरिभक्तिविल [कहा गया है]—

वाणीसे 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहते हुए और मनसे भी उसी प्रकार अनुभव हुए शरणागत [भक्त] उस [भगवान्‌के] के स्थानको प्राप्त कर सदा आनन्दित होता है । १५३ ।

और नृसिंह-पुराणमें भी [शरणागतिका महत्त्व इस प्रकार कहा गया है]—

हे देवाधिदेव ! जनार्दन ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ ऐसा कहकर जो आता है मैं क्लेशोंसे उसका उद्धार करता हूँ । १५४ ।

५३—अब तुलसीकी सेवा [का उदाहरण] जैसे स्कन्द-पुराणमें [लिखा है]—

जिस [तुलसी] के देखनेसे सम्पूर्ण पापोंका नाश होता है, स्पर्शसे शरीर पवि है, वन्दना करनेसे रोगोंका शमन होता है, सींचनेसे यम भयभीत होता है, संरोपण जो भगवान् कृष्णका सामीप्य प्रदान करने वाली है और उनके चरणोंमें अर्पित क विमुक्ति रूप फलको प्रदान करने वाली है उस तुलसीको नमस्कार है । १५५ ।

और भी उसी जगह [अर्थात् स्कन्दपुराणमें कहा है]—

देखनेमें, स्पर्श करनेमें, ध्यान और कीर्तनमें, नमस्कार और स्तुतिमें, आरोपि सेवित होनेपर तथा पूजित होनेपर तुलसी सदा [सब रूपोंमें कल्याणकारिणी है । १५६ ।

नवधा तुलसीं देवीं ये भजन्ति दिने दिने
युगकोटिसहस्राणि ते वसन्ति हरेर्गृहे ॥१५७॥

५४. अथ शास्त्रस्य—

शास्त्रमत्र समाख्यातं यद्भक्तिप्रतिपादकम् ॥५६॥

यथा स्कान्दे—

वैष्णवानि तु शास्त्राणि ये शृण्वन्ति पठन्ति च ।
धन्यास्ते मानवा लोके तेषां कृष्णः प्रसीदति ॥१५८॥
वैष्णवानि च शास्त्राणि येऽर्चयन्ति गृहे नराः ।
सर्वपापविनिर्मुक्ता भवन्ति सुरवन्दिताः ॥१५९॥
तिष्ठते वैष्णवं शास्त्रं लिखितं यस्य मन्दिरे ।
तत्र नारायणो देवः स्वयं वसति नारद ! ॥१६०॥

श्रीभागवते—

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥१६१॥

५५. अथ मथुरायाः, यथाऽऽदिवाराहे—

मथुरां च परित्यज्य योऽन्यत्र कुरुते रतिम् ।
मूढो भ्रमति संसारे मोहितो मम मायया ॥१६२॥

जो [पूर्व श्लोकमें कहे हुए] नौ प्रकारोंसे प्रतिदिन तुलसीदेवीकी सेवा करते हैं करोड़ों युगों तक [हरेर्गृहे] स्वर्गमें निवास करते हैं । १५७ ।

५४—अब शास्त्र [के सेवन और उसके लक्षणका कथन अगली कारिकामें करते है]—

जो [भगवान्‌की] भक्तिका प्रतिपादक हो उसी को यहाँ शास्त्र कहा गया है ॥५६॥

जैसाकि स्कन्दपुराणमें [कहा है]—

जो लोग वैष्णव शास्त्रोंको सुनते और पढ़ते हैं वे मनुष्य संसारमें धन्य हैं, भगव [कृष्ण] उनसे प्रसन्न होते हैं । १५८ ।

और जो मनुष्य अपने घरोंमें वैष्णव शास्त्रोंकी पूजा करते हैं वे सब पापोंसे विमुत होकर देवताओंके वन्दनीय बनते हैं । १५९ ।

हे नारद ! जिसके घरमें लिखा हुआ वैष्णव शास्त्र विद्यमान है वहाँ मानो नाराय देव स्वयं निवास करते हैं । १६० ।

भागवतमें [भी कहा है]—

श्रीमद्भागवत समस्त वेदान्तका सार माना जाता है । उसके रसामृतसे तृप्त हुए अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं आता है । १६१ ।

५५—अब मथुराके सेवनका [उदाहरण आगे देते हैं] जैसा कि आदि वराह-पुराण लिखा है]—

मथुराको छोड़कर जो मनुष्य दूसरे स्थानको प्रेम करता है वह मूर्ख मेरी माया चक्करमें पड़कर ससारमें अर्थात् जन्म-मरणके चक्करमें] घूमता रहता है १६२

ब्रह्माण्डे च

त्रैलोक्यवर्त्तितीर्थानां सेवनाद् दुर्लभा हि या।
परानन्दमयी सिद्धिर्मथुरास्पर्शमात्रतः ॥१६३॥

श्रुता स्मृता कीर्तिता च वाञ्छिता प्रेक्षिता गता।
स्पृष्टा श्रिता सेविता च मथुराऽभीष्टदा नृणाम् ॥६०॥
इति ख्यातं पुराणेषु न विस्तरभियोच्यते ॥

५६. अथ वैष्णवानां यथा पाद्मे--

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि! तदीयानां समर्चनम् ॥१६४॥

तृतीये च—

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥१६५॥

स्कान्दे च—

शङ्खचक्राङ्किततनुः शिरसा मञ्जरीधरः।
गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः ॥१६६॥

प्रथमे—

और ब्रह्माण्डपुराणमें भी [लिखा है]—

जो परमानन्दमयी सिद्धि तीनों लोकोंके तीर्थोंके सेवनसे भी प्राप्त नहीं होती है मथुराके स्पर्शमात्रसे वह प्राप्त हो जाती है। १६३।

मथुराके श्रवण, स्मरण, कीर्त्तन, वांछा, दर्शन, गमन, स्पर्श, आश्रय लेने तथा सेवनसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। इस बातका पुराणोंमें प्रतिपादन किया गया है। विस्तारके भयसे हम यहाँ उसका वर्णन नहीं करेंगे ॥ ६० ॥

५८—अब वैष्णवोंके सेवन [का उदाहरण आगे देते हैं] जैसाकि पद्मपुराणमें [लिखा गया है]—

सारी आराधनाओंमें विष्णुकी आराधना मुख्य है। किन्तु हे देवि! उनके भक्तोंकी आराधना उससे भी बड़ी है। १६४।

और तृतीय [स्कन्ध] में भी [लिखा है]—

जिन [भक्तों] की सेवासे, कूटस्थ [सदा एकरस रहने वाले] कृष्णका [भक्तोंकी सहायतार्थ भागनेके कारण होने वाले] चरणोंके क्लेशका नाश करने वाला प्रबल आनन्द होता है। १६५।

और स्कन्दपुराणमें भी [लिखा है]—

शंख, चक्रसे चिह्नित शरीर वाले, सिरपर मंजरी धारण किए हुए और गोपीचन्दन को शरीरमें लगाए हुए [भक्त] का यदि दर्शन हो जाता है तो फिर पाप कहाँ [रह सकता है]। १६६ ॥

प्रथम स्कन्धमें में भी कहा है

येषा संस्मरणात्पुंसा सद्य शुध्यन्ति वै गृहा
कि पुनर्दर्शनस्पर्श ॥१६७

आदिपुराणे—
ये मे भक्तजनाः पार्थ ! न मे भक्ताश्च ते जनाः ।
मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः ॥१६८॥ इति,

यावन्ति भगवद्भक्तेरङ्गानि कथितानि ह ॥६१॥
प्रायस्तावन्ति तद्भक्तभक्तेरपि बुधा विदुः ॥

५९. अथ यथावैभवमहोत्सवः—
यथा पाद्मे—
यः करोति महीपाल ! हरेर्गेहे महोत्सवम् ।
तस्यापि भवति नित्यं हरिलोके महोत्सवः ॥१६९॥

६०. अथोर्जादरो यथा पाद्मे—
यथा दामोदरो भक्तवत्सलो विदितो जनैः ।
तस्यायं तादृशो मासः स्वल्पमत्युपकारकः ॥१७०॥

तत्रापि माथुरे विशेषो यथा तत्रैव—
भुक्तिं मुक्तिं हरिर्दद्यादर्चितोऽन्यत्र सेविनाम् ।
भक्तिं तु न ददात्येव यतो वश्यकरी हरेः ॥१७१॥

जिन [भक्तों] के स्मरणमात्रसे घर पवित्र हो जाता है उनके दर्शन, स्पर्श और पाँव पखारने आदिसे [जो पुण्य होगा उसका तो] कहना ही क्या है। १६७।

आदिपुराणमें [भी लिखा है]—

हे अर्जुन ! जो मेरे भक्तजन हैं वे तो मेरे [उतने प्रिय] भक्तजन नहीं हैं किन्तु मेरे भक्तोंके जो भक्त हैं वे ही मनुष्य मेरे वास्तविक भक्त हैं। १६८।

भगवद्भक्तिके जितने अंग कहे गए हैं प्रायः उतने ही अंग विद्वान् लोग उनके भक्तोंकी भक्तिके भी मानते हैं ॥ ६१ ॥

५९—अपने वैभवके अनुसार महोत्सव [मनानेका विधान] जैसाकि पद्मपुराणमें [कहा गया है]—

हे राजन् ! जो [हरेर्गेहे अर्थात्] भगवान्के मन्दिरमें महोत्सव मनाता है उसको भी स्वर्ग [हरिलोके] में नित्य महोत्सवकी प्राप्ति होती है। १६९।

६०—कार्तिक मासके आदर [का उदाहरण] जैसाकि पद्मपुराणमें [कहा है]—

जैसे कि कृष्ण लोकमें भक्तवत्सल रूपमें विख्यात हैं इसी प्रकार उनका यह [कार्तिक] मास भी थोड़ी बुद्धि वालोंका उपकारक माना गया है। १७०।

उसमें भी मथुरामण्डलमें [इसका] विशेष [महत्त्व] है जैसाकि वहीं [अर्थात् पद्मपुराण में कहा गया है]—

अन्य स्थानोंपर सेवा करने वालोंको कृष्ण, भुक्ति [लौकिक भोग] और मुक्ति तो दे देते हैं किन्तु भक्ति नहीं देते हैं क्योंकि वह भक्ति भगवान्को वशमें कर लेने वाली है। १७१।

सा त्वञ्जसा हरेर्भक्तिर्लभ्यते कार्त्तिके नरैः
मथुरायां सकृदपि श्रीदामोदरसेवनात् ॥१७२॥

६१. अथ श्रीजन्मदिनयात्रा, यथा भविष्योत्तरे -

यस्मिन् दिने प्रसूतेयं देवकी त्वां जनार्दन ! ।
तद् दिनं ब्रूहि वैकुण्ठ ! कुर्मस्ते तत्र चोत्सवम् ॥
तेन सम्यक् प्रपन्नानां प्रसादं कुरु केशव ॥१७३॥

६२. अथ श्रीमूर्तेरङ्घ्रिसेवने प्रीतिः, यथाऽऽदिपुराणे—

मम नामसदाग्राही मम सेवाप्रियः सदा ।
भक्तिस्तस्मै प्रदातव्या न च मुक्तिः कदाचन ॥१७४॥

६३. अथ श्रीभागवतास्वादो, यथा प्रथमे—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका ! भुवि भावुकाः ॥१७५॥

द्वितीये च—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे ! आख्यानं यदधीतवान् ॥१७६॥

किन्तु मथुरामें कार्तिक मासमें एक बार भी भगवानकी सेवा करनेसे मनुष्योंको वह भक्ति तुरन्त ही प्राप्त हो जाती है । १७२ ।

६१—श्रीकृष्ण जन्मदिनकी यात्रा [का उदाहरण] जैसाकि भविष्योत्तर पुराणमें [लिखा है]—

हे वैकुण्ठ ! जिस दिन देवकीने आपको जन्म दिया उस दिनको बतलाइए, जिससे उस दिन हम महोत्सव मनावें । और हे केशव ! उसके द्वारा पूर्णतया अपनी शरणमें आए हुओंके ऊपर कृपा करो । १७३ ।

६२—अब श्रीमूर्तिके चरणोंकी सेवामें प्रीति [का उदाहरण] जैसा कि आदि पुराणमें [लिखा है]—

जो सदा मेरे नामका लेने वाला और सदा मेरी सेवा करनेवाला है उसको भक्ति ही प्रदान करनी चाहिए किन्तु मुक्ति कभी नहीं देनी चाहिए । १७४ ।

६३—और श्री भागवतका आस्वादन [अर्थात् श्रवणका उदाहरण] जैसाकि प्रथम [स्कन्ध] में [लिखा है]—

श्री शुकदेव [दूसरे पक्षमें तोते] के मुखसे गिरे हुए अमृत [सहश] रस [एक पक्षमें भक्ति] रससे परिपूर्ण [और फल पक्षमें तरल द्रवसे भरे हुए] निगम [वेद] रूप कल्पतरुका फल श्रीमद्भागवतके रसको हे भावुको ! पृथिवी पर [आलयं अर्थात् फल पक्षमें रसकी समाप्ति पर्यन्त और भागवत पक्षमें विमुक्ति पर्यन्त] विलीन होने तक बार-बार [जी भरकर निरन्तर] पान करो । १७५ ।

और [भागवतके] दूसरे [स्कन्ध] में—

हे राजर्षे ! निर्गुण उपासनामें परिपूर्ण [उत्तम श्लोक अर्थात्] कृष्णकी [भागवतमें कही हुई] लीलाओंसे मनका हरण हो जानेके कारण [निर्गुण उपासनाके मार्गको छोड़कर

६४ अथ यथा प्रथमे

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥१७७॥

हरिभक्तिसुधोदये—

यस्य यत्सङ्गतिः पुंसो मणिवत्स्यात्स तद् गुणः ।
स्वकुलदृध्यै ततो धीमान् स्वयूथ्यानेव संश्रयेत् ॥१७८॥

६५ अथ नामसङ्कीर्त्तनं यथा द्वितीये—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप ! निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥१७९॥

आदिपुराणे च—

गीत्वा तु मम नामानि विचरेन्मम सन्निधौ ।
इति ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य चार्जुन ! ॥१८०॥

पाद्मे च—

येन जन्मसहस्राणि वासुदेवो निषेवितः ।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत ! ॥१८१॥

यतस्तत्रैव—

भागवतके आख्यानको उसने पढ़ा । १७६ ।

अब सजातीय संस्कारों वाले भगवद्भक्तके संग [का उदाहरण] जैसा कि [भागवतके] प्रथम [स्कन्ध] में [लिखा है]—

भगवद्भक्तके सहवासके साथ हम स्वर्ग और अपवर्गकी लेशमात्र भी तुलना नहीं कर सकते हैं तब मानवी आकांक्षाओंकी तो बात ही क्या है । १७७ ।

'हरिभक्तिसुधोदय'में [भी कहा है]—

जिस पुरुषकी जिसके साथ सङ्गति होती है मणिके समान वह उसके गुणको धारण करने वाला बन जाता है । इसलिए बुद्धिमान [भक्त] अपने कुल [भक्तकुल] की वृद्धिके लिए अपने ही सम्प्रदायके लोगोंका संग करे । १७८ ।

अब नामकीर्तन [का उदाहरण आगे देते हैं] जैसाकि द्वितीय स्कन्धमें लिखा है—

हे राजन् ! वैराग्य युक्त और मोक्ष चाहने वालोंकेलिए यह भगवन्नामका कीर्तन [सर्वोत्तम उपाय] निर्णय किया गया है । १७९ ।

और आदिपुराणमें भी [लिखा है]—

हे अर्जुन ! जो मेरे नामका गान करता हुआ मेरे पास [अर्थात् मेरी मूर्तिके पास] विचरण करता है मैं सत्य कहता हूँ वह मुझे खरीद लेता है । १८० ।

और पद्मपुराणमें भी [लिखा है]—

हे भारत ! जिसने सहस्रों जन्म तक भगवान् वासुदेवकी सेवा की है उसी [सौभाग्यशील] के मुखमें सदा हरिके नाम [का जप] रहता है । १८१ ।

क्योंकि वहीं पद्मपुराणमें

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥१८२॥ इति

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ॥६२॥
सेवोन्मुखे हि जिह्वाऽऽदौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

६४. अथ श्रीमथुरामण्डले स्थितिः यथा पाद्मे

अन्येषु पुण्यतीर्थेषु मुक्तिरेव महाफलम् ।
मुक्तैः प्रार्थ्या हरेर्भक्तिर्मथुरायां तु लभ्यते ॥१८३॥
त्रिवर्गदा कामिनां या मुमुक्षूणां च मोक्षदा ।
भक्तीच्छोर्भक्तिदा कस्तां मथुरां नाश्रयेद् बुधः ॥१८४॥
अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी ।
दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते ॥१८५॥

दुरूहाद्भुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके ॥६३॥
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धियां भावजन्मने ॥

चिन्तामणि सदृश [मनोवांछित अर्थको प्रदान करनेवाला] नाम-[illegible] नाम और नामीके अभेद होनेके कारण पूर्ण शुद्ध और नित्यमुक्त चैतन्य रसस्वरूप भगवान् कृष्ण हैं । १८२ ।

इसलिए श्रीकृष्णके नाम आदिका ग्रहण इन्द्रियोंसे नहीं होता है किन्तु सेवामें तत्पर होनेपर वह स्वयं ही जिह्वापर नाचने लगता है । [अर्थात् [illegible] यत्न करनेपर भी हम नामका उच्चारण नहीं कर पाते हैं किन्तु भक्तिमें लीन होनेपर अनायास ही हमारे मुखसे नाम उच्चारण होने लगता है] ॥ ६२ ॥

६४—अब मथुरा-मण्डलमें स्थिति [का उदाहरण आगे देते हैं] जैसा कि पद्मपुराण मे [लिखा है]—

अन्य पवित्र तीर्थोंमें मुक्ति ही महाफल [के रूप में प्राप्त होती] है किन्तु मथुरामें मुक्तोंके द्वारा भी प्रार्थनीय भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है । १८३ ।

[विशेष फलोंकी] कामना करने वालोंकेलिए जो [मथुरा धर्म, अर्थ, काम रूप] तीनों फलोंके देनेवाली है और जो मोक्ष चाहने वालोंको मोक्ष प्रदान करने वाली है तथा भक्ति चाहने वालोंको भक्ति प्रदान करने वाली है उस मथुराका सेवन कौन बुद्धिमान न करेगा । १८४ ।

अहो मथुरा नगरी धन्य और वैकुण्ठसे भी महत्त्वशालिनी है क्योंकि उसमें एक दिन भी रहनेसे कृष्णमें भक्ति उत्पन्न हो जाती है । १८५ ।

इस प्रकार पहले कहे हुए ६४ भक्त्यङ्गोंका यहाँ तक [illegible] वर्णन हो गया । इन ६४ अङ्गोंमें भी १ श्रीमूर्ति, २ श्री भागवत, ३ कृष्णभक्त, ४ नाम और ५ मथुरामण्डल । इन पाँचका वैष्णव भक्तिमें सबसे अधिक महत्त्व है । इसलिए [illegible] इनपर विशेष बल देनेके लिए उनके विषयमें विशेषरूपसे अलग विवेचना आगे करते हैं ।

दुर्ज्ञेय एवं अद्भुत शक्ति शाली इन [आगे कहे जाने वाले] पाँचोंमें श्रद्धा तो दूर रहो तनिक-सा भी सम्बन्ध उत्तम बुद्धि वालोंमें भक्तिको उत्पन्न कर देता है ॥ ६३ ।

तत्रश्रीमूर्त्तिर्यथा

> स्मेरां भङ्गीत्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं
> वंशीन्यस्ताधरकिशलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण ।
> गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे
> मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे ! बन्धुसङ्गेऽस्ति रङ्गः ॥१८६॥

श्रीभागवतं यथा—

> शङ्के नीताः सपदि दशमस्कन्धपद्यावलीनां-
> वर्णाः कर्णाध्वनि पथिकतामानुपूर्व्याद्भवद्भिः ।
> हंहो डिम्भाः ! परमशुभदान् हन्तधर्मार्थकामान्
> यद्गर्हन्तः सुखमयममी मोक्षमप्याक्षिपन्ति ॥१८७॥

कृष्णभक्तो यथा—

> दृगम्भोभिर्धौतः पुलकपटलीमण्डिततनुः
> स्खलन्नन्तःफुल्लो दधदतिपृथुं वेपथुमपि ।
> दृशोः कक्षां यावन्मम स पुरुषः कोऽप्युपययौ
> न जाने किं तावन्मतिरिह गृहे नाभिरमते ॥१८८॥

नाम यथा—

> यदवधि मम शीता वैणिकेनानुगीता
> श्रुतिपथमघशत्रोर्नामगाथा प्रयाता ।
> अनवकलितपूर्वां हन्त कामप्यवस्थां-
> तदवधि दधदन्तर्मानसं शाम्यतीव ॥१८९॥

उन पाँचमेंसे [सबसे प्रथम] श्रीमूर्ति [का उदाहरण] जैसे [आगे दिया जा रहा है]—

हे सखे ! यदि तुम्हें अपने घर वालोंके साथ प्रेम है [तुम यदि उनके साथ रहना चाहते हो] तो केशिघाटके निकट मुस्कराते हुए, त्रिभंगीसे परिचित, तिरछी और दूर तक फैली हुई दृष्टि वाले, अधरपर बाँसुरी रखे हुए, और मोर-पंखके चन्द्रकसे चमकते हुए गोविन्द नामक विष्णुके शरीरको अब आगे मत देखना [नहीं तो तुम घर-बार सबकी सुधबुध भूलकर उनकी भक्तिमें ही लीन हो जाओगे] । १८६ ।

श्री भागवत [के महत्त्वका उदाहरण आगे देते हैं]—

अरे बच्चो ! जान पड़ता है कि तुमने [भागवतके] दशम स्कन्धकी पद्यावलियोंके वर्णोंको आनुपूर्वीसे अपने श्रोत्रमार्गका पथिक बना लिया है इसलिए परम कल्याणप्रद धर्म, अर्थ और कामकी निन्दा करते हुए तुम सुखमय मोक्षका भी निरादर कर रहे हो । १८७ ।

कृष्णभक्त [की प्रशंसाका उदाहरण आगे देते हैं]—

आँसुओंसे धुले हुए, रोमांचसे शोभित, लड़खड़ाते हुए, भीतरसे खिले हुए और अत्यन्त तीव्र कम्प [आदि समस्त सात्त्विक भावों] को धारण किए हुए उस [भगवद्भक्त] पुरुषको जबसे देखा है तबसे न जाने क्यों मेरा मन घरमें नहीं लगता है । १८८ ।

नाम [के महत्त्वका उदाहरण] जैसे [आगे कहा है]—

जबसे बाँसुरीवालेके द्वारा गाई जानेवाली [भगवान्] की शीतल नामकी

श्रीमथुरामण्डलं यथा—

तटभुवि कृतकान्तिः श्यामलायामलिन्द्याः
स्फुटितनवकदम्बालम्बिकूजद्द्विरेफा ।
निरवधिमधुरिम्णा मण्डितेयं कथं मे
मनसि कमपि भावं काननश्रीस्तनोति ॥१६०॥

अलौकिकपदार्थानामचिन्त्या शक्तिरीदृशी ॥६४॥
भावं तद्विषयं चापि या सहैव प्रकाशयेत् ॥
केषांचित् क्वचिदङ्गानां यत्क्षुद्रं श्रूयते फलम् ॥६५॥
बहिर्मुखप्रवृत्त्यैतत् किन्तु मुख्यं फलं रतिः ॥
सम्मतं भक्तिविज्ञानां भक्त्यङ्गत्वं तु कर्मणाम् ॥६६॥

कथा कानोंमें पड़ी है तबसे किसी अनिर्वचनीय अभूतपूर्व अवस्थाको धारण करता हुआ मेरा मन एकदम शान्त-सा हो गया है। १८९।

श्री मथुरामण्डल [के माहात्म्यका प्रतिपादन] जैसा [नीचे किया जा रहा है]

श्यामल [यमुना] नदीके किनारे सौन्दर्यको बरसाती हुई, खिले हुए कदम्बके ऊपर बैठकर गुञ्जारते हुए भौंरोंसे युक्त, अपरिमित माधुर्यसे मण्डित, यह वनश्री न जाने क्यों मेरे मनमें किसी [अनिर्वचनीय भक्ति] भावको उत्पन्न कर रही है। १९०।

भक्त्यङ्गोंका फल—

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने ६४ प्रकारके वैधी भक्तिके अङ्गोंका बहुत अधिक विस्तारके साथ वर्णन किया है। अब वे संक्षेपमें उनके फलका प्रतिपादन अगली दो कारिकाओं मे करते हुए उनकी सामर्थ्य तथा उपयोगिताका प्रदर्शन करते हैं

[उपर्युक्त पाँचों] अलौकिक पदार्थोंकी इस प्रकारकी अचिन्त्य शक्ति है कि जिसके कारण वे भाव [भक्ति प्रेम] और उसके विषय [कृष्णके स्वरूप] दोनोंको एक साथ ही प्रकाशित कर देते हैं। [अर्थात् इन पाँचोंके द्वारा श्रीकृष्ण विषयक भक्तिका उदय और उनके स्वरूपका परिज्ञान दोनों एक साथ हो जाते हैं] ॥ ६४ ॥

[पूर्वोक्त ६४ प्रकारके भक्त्यङ्गोंमेंसे] किन्हीं भक्त्यङ्गोंका जो कहीं क्षुद्र फल सुननेको मिलता है [अर्थात् कहा गया है] वह [उन साधनोंमें] बाहरी प्रवृत्ति [कराने]के लिए ही [कहा गया] है [वह उनका मुख्य प्रतिपाद्यफल नहीं है उनका] मुख्य फल तो [रति अर्थात्] भक्ति है॥६५॥

कर्मकी भक्त्यङ्गता—

ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग नामसे जो तीन मुख्य मार्ग माने जाते हैं उनमेंसे कर्म-सिद्धान्तका आधार मुख्यतः ब्राह्मण ग्रन्थ, ज्ञान-सिद्धान्तका आधार मुख्यतः उपनिषद् ग्रन्थ और भक्तिसिद्धान्तका आधार मुख्यतः पुराणग्रन्थ है। पुराणग्रन्थोंके आधारपर ही ग्रन्थकार ने अपने सारे सिद्धान्तोंका विवेचन यहाँ किया है। इनमेंसे कर्मकाण्डको तो भक्तिमार्गवाले भक्ति-सिद्धान्तका अङ्ग मानते है। किन्तु ज्ञान और वैराग्यको वे भक्तिका अङ्ग नहीं मानते है। इस बातका प्रतिपादन ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें निम्न प्रकार करते हैं—

भक्तिके पण्डित लोग कर्मोंको अर्थात् **तो भक्तिका अङ्ग मानते हैं। ६६।**

यथा चैकादशे

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
सत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥१६१॥ इति,

ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशायोपयोगिता ॥
ईषत्प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः ॥६७॥
यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते ॥
सुकुमारस्वभावेयं भक्तिस्तद्धेतुरीरिता ॥६८॥

यथा तत्रैव—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥१६२॥ इति,

जैसाकि [भागवतके] ग्यारहवें [स्कन्ध] में [लिखा है]—

तब तक [साधक] कर्म करता रहे जब तक [या तो] उसको वैराग्य न हो जाय [अर्थात् वैराग्य द्वारा जब तक ज्ञान मार्गके क्षेत्रमें न पहुँच जाय तब तक कर्म करता रहे या फिर] भगवान्‌की कथा आदिके श्रवण करनेमें जब तक श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय [तब तक कर्म करता रहे] । १६१ ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि कर्मकाण्ड ज्ञान और भक्ति दोनोंका अङ्ग है । उसका स्वतन्त्र रूपमें महत्त्वपूर्ण उपयोग नहीं है । वह केवल बुद्धि-शुद्धि द्वारा ज्ञानमार्ग अथवा भक्तिमार्ग तक पहुंचनेका कार्य करता है ।

ज्ञान और वैराग्यका उपयोग—

इस प्रकार कर्ममार्ग भक्तिमार्गका अङ्ग है इस बातको दिखलाकर अगली कारिकामें ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि ज्ञान और वैराग्य भक्तिके किंचित पूर्व उत्पन्न होते हैं किन्तु वे कर्मकाण्डके समान भक्तिके अङ्ग नहीं हैं ।

[भक्तिके अविरोधी होने पर] ज्ञान और वैराग्यकी, भक्तिमें प्रवेशकेलिए [ईषत्] कुछ थोडी सी उपयोगिता भी होती है किन्तु ['प्रथममेव' भक्तिके] पहिले ही होता है । इसलिए [कर्मके समान] उन दोनोंको अङ्ग मानना उचित नहीं है ॥ ६७ ॥

ज्ञान और वैराग्यको भक्तिका अङ्ग नहीं माना जा सकता है इस बातके उपपादनके लिए ग्रन्थकार अगली कारिकामें एक सुन्दर युक्ति उपस्थित करते हैं—

क्योंकि [ज्ञान और वैराग्य] दोनोंको [क्रमशः कठिन तर्क-वितर्क और दुःख--बुद्धिसे उत्पन्न होनेके कारण] सज्जन लोग चित्तको कठोर बनाने वाला मानते हैं [इसलिए सुकुमार स्वभाववाली भक्तिकेप्रति उनकी अंगता उचित नहीं है] अपितु कोमल स्वभाववाली [पूर्ववर्तिनी भक्ति ही [वुगम सङ्क्रमनोके अनुसार भक्तिका हेतु मानी जाती

किं तु ज्ञानविरक्त्यादिसाध्यं भक्त्यैव सिध्यति ॥

तथा तत्रैव---

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥१६३॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति ॥१६४॥

रुचिमुद्वहतस्तत्र जनस्य भजने हरेः ॥६९॥
विषयेषु गरिष्ठोऽपि रागः प्रायो विलीयते ॥
अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ॥७०॥
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥
प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ॥७१॥

किन्तु ज्ञान और वैराग्यादिसे साध्य [फल, भक्तिमार्गावलम्बी] भक्तिसे ही सिद्ध हो जाता है ।

जैसा कि वहीं [ग्यारहवें स्कन्धमें लिखा है] ---

जो [फल यज्ञादि] कर्मोंसे, तपसे, [मिलता है, और जो फल] ज्ञान तथा वैराग्यसे योगसे, दान, धर्मसे अथवा अन्य शुभ मार्गों द्वारा प्राप्त होता है । १६३ ।

उस सबको भगवान्‌का भक्त [मद्भक्त] भगवान्‌की भक्तिके द्वारा [मद्भक्तियोगेन] तुरन्त प्राप्त कर लेता है और स्वर्ग अपवर्ग या [मद्धाम] भगवान्‌के धामको यदि किसी प्रकारसे चाहता है तो [उस सबको भी भगवान्‌की भक्तिके द्वारा तुरन्त प्राप्त कर लेता है । वैसे वह भगवान्‌की भक्तिको छोड़कर अन्य किसी फलकी कामना करता ही नहीं है] । १६४ ।

भक्ति द्वारा रागका विनाश---

भगवान्‌के भजनमें रुचि रखने वाले पुरुषका विषयोंके प्रति प्रबल राग भी प्रायः समाप्त हो जाता है । ६९ ।

भक्तिमें वैराग्यकी अनुपयोगिता---

ऊपरकी कारिकामें यह दिखलाया था कि वैराग्य [illegible] भक्ति द्वारा प्रबल वैराग्यका भी नाश हो जाता है [illegible] यह दिखलानेके लिए ग्रन्थकार अगली कारिकाओंमें उस वैराग्यके [illegible] फल्गु वैराग्य [व्यर्थ वैराग्य] दो भेद करते हैं

[विषयोंमें] आसक्तिरहित होकर उचित रीतिसे विषयोंका भोग करते हुए भगवान् [की भक्ति] के सम्बन्धमें विशेष आग्रहका होना युक्त-वैराग्य कहलाता है ॥ ७० ॥

मोक्ष प्राप्तिकी इच्छा करने वालोंके द्वारा [प्रापञ्चिकतया] दिखावटी रूपसे [केवल] बुद्धि द्वारा भगवत्सम्बन्धी [अर्थात् भगवानकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाली अथवा देवप्रसाद आदि] का परित्याग फल्गु वैराग्य कहलाता है । ७१ ॥

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥
प्रोक्तेन लक्षणेनैव भक्तेरधिकृतस्य च ॥७२॥
अङ्गत्वे सुनिरस्तेऽपि नित्याद्यखिलकर्म्मणाम् ॥
ज्ञानस्याध्यात्मिकस्यापि वैराग्यस्य च फल्गुनः ॥७३॥
स्पष्टतार्थं पुनरपि तदेवेदं निराकृतम् ॥
धनशिष्यादिभिर्द्वारैर्या भक्तिरुपपाद्यते ॥७४॥
विदूरत्वादुत्तमताहान्या तस्याश्च नाङ्गता ।
विशेषणत्वमेवैषां संयान्त्यधिकारिणाम् ॥७५॥

[ग्यारहवीं कारिकामें कहे हुए 'ज्ञान कर्माद्यनावृतं' आदि भक्तिके] पूर्वोक्त लक्षण और [द्वितीय लहरीकी पाँचवीं कारिकामें कहे हुए] अधिकारीके लक्षणोंके द्वारा ही नित्य [नैमित्तिक और काम्य] आदि सब प्रकारके कर्मोंकी [भक्तिके प्रति] अङ्गताका निराकरण हो जाने पर भी—आध्यात्मिक ज्ञान और फल्गु वैराग्यकी [जो भक्तिकी प्रति] अङ्गताका खण्डन किया गया है सो] यह उसी [पूर्व निराकृत अङ्गता] की स्पष्टताके लिए पुनर्निराकरण किया गया है ॥ ७२-७३ ॥

गौण भक्तिकी अङ्गताका निराकरण—

पिछली ६८वीं कारिकामें ग्रन्थकारने यह दिखलाया था कि ज्ञान और वैराग्य दोनो चित्तकी कठोरताके हेतु होते हैं इसलिए सुकुमार स्वभाव वाली भक्तिके प्रति उनकी अङ्गता नहीं है। अर्थात ज्ञान और वैराग्यको भक्तिका जनक नहीं माना जा सकता है। किन्तु सुकुमार स्वभाव वाली पूर्ववर्तिनी भक्ति ही उत्तरवर्तिनी भक्तिकी उद्बोधिका या जननी होती है। अब अगली कारिकामें ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि कुछ भक्ति भी बनावटी अवास्तविक भक्ति होती है। उसको भी भक्तिका अङ्ग नहीं माना जा सकता है। इसमें धनादिके द्वारा या शिष्यादिके द्वारा जिस भक्तिका उत्पादन अर्थात प्रसिद्धि कराई जाती है वह भी उत्तम भक्ति नहीं होती है इसलिए उसको भी भक्तिका अङ्ग नहीं कहा जा सकता है। इस बातको ग्रन्थकारने इस प्रकार लिखा है—

धन और शिष्य आदिके द्वारा जिस भक्तिका उपपादन [स्थापन प्रसिद्धि] कराया जाता है [उसके वास्तविक भक्तिसे] दूर होने और उत्तम श्रेणीसे गिर जानेसे उसकी भी भक्तिके प्रति अङ्गता नहीं होती है ॥ ७४ ।

क्योंकि [वेदान्तमें] इन विवेक आदि [अर्थात् १ नित्यानित्यवस्तु विवेक, २ इहामुत्र फल भोग विराग, ३ शमादिषट्क सम्पत्ति और ४ मुमुक्षुत्व] को अधिकारीका विशेषण ही कहा गया है अतः [हमने] इनको भी [भक्तिका] अङ्ग नहीं कहा है ॥ ७५ ॥

यम नियमादिकी अङ्गताका निवारण—

जिस प्रकार ज्ञान और वैराग्यको भक्तिका अङ्ग नहीं माना गया है इसी प्रकार भक्ति सम्प्रदायमें यम-नियम आदि योगाङ्गोंको भी भक्तिका अङ्ग नहीं माना गया है। भक्ति वादियोंका कहना यह है कि यम-नियम आदि तो भक्तके पीछे स्वयं भागते हैं भक्तको उनके

विवेकादीन्यतोऽमीषामपि नाङ्गत्वमुच्यते ॥
कृष्णोन्मुखं स्वयं यान्ति यमाः शौचादयस्तथा ॥७६॥
इत्येषां च न युक्ता स्याद्भक्त्यङ्गान्तरपातिता ॥

यथा स्कान्दे—

> एते न ह्यद्भुता व्याध ! तवाहिंसाऽऽदयो गुणाः ।
> हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः ॥१९५॥

तत्रैव—

> अन्तःशुद्धिर्बहिःशुद्धिस्तपः शान्त्यादयस्तथा ।
> अमी गुणाः प्रपद्यन्ते हरिसेवाऽभिकामिनम् ॥१९६॥ इति,

सा भक्तिरेकमुख्याङ्गाश्रितानैकाङ्गिकाऽथ वा ॥७७॥
स्ववासनाऽनुसारेण निष्ठातः सिद्धिकृद्भवेत् ॥

तत्रैकाङ्गा यथा ग्रन्थान्तरे—

सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं होती है इसलिए उनको भी भक्तिका अङ्ग नहीं माना जा सकता है। इसी बातको ग्रन्थकार ने अगली कारिकामें इस प्रकार लिखा है (सं०)

और [अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः] यम और [शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः] शौचादि [नियम] कृष्ण [की भक्ति] मे लगे हुएके पास स्वयं हो जाते हैं इसलिए इनको भी भक्तिके अङ्गोंके भीतर गणना करना उचित नहीं है ॥७६॥

जैसाकि स्कन्दपुराणमें [कहा है]—

हे व्याध ! ये अहिंसा आदि [यम नियमात्मक] गुण उन [भक्तों] में नए नहीं हैं क्योंकि जो भगवान्‌की भक्तिमें लीन हैं वे दूसरोंको दुःख देने वाले [हिंसक या मिथ्याभाषी आदि यम नियमोंका उल्लंघन करने वाले] नहीं होते हैं। १९५।

वहीं [अर्थात् स्कन्दपुराणमें ही यह भी कहा है कि]—

आन्तरिक शुद्धि, बाह्यशुद्धि, तप तथा शान्ति आदि ये सब गुण भगवान्‌की भक्तिको चाहने वालोंको [स्वयं ही] प्राप्त हो जाते हैं। १९६।

भक्तिकी एकाङ्गता और अनेकाङ्गता—

ऊपर ग्रन्थकारने वैधी भक्तिके ६४ अङ्गोंका बहुत विस्तारके साथ निरूपण किया था और यह भी कहा था कि इनके अतिरिक्त भक्तिके और भी अङ्ग हो सकते हैं। किन्तु सब जगह सारे अङ्गोंके उपयोगकी आवश्यकता नहीं पड़ती है। कहीं केवल एक मुख्य अङ्गके आश्रयसे फलकी प्राप्ति हो जाती है और कहीं अनेक अङ्गोंका उपयोग भी होता है। अगली कारिकामें ग्रन्थकार इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन कर उदाहरणों द्वारा उसको स्पष्ट करने का यत्न करते हुए लिखते हैं—

वह भक्ति [साधकको] अपनी वासनाओंके अनुरूप श्रद्धाके अनुसार कहीं केवल एक मुख्य अंगके द्वारा अथवा कहीं अनेक अवान्तर अंगोंके योग द्वारा सिद्धिको प्रदान करनेवाली होती है ॥ ७७ ॥

इनमें [केवल] एक अंग वाली [भक्तिके सिद्धिप्रदत्वका उदाहरण] जैसे दूसरे ग्रन्थमें

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्त्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम् ॥१९७॥

अनेकाङ्गा यथा श्रीनवमे—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥१९८॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥१९९॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥२००॥ इति

शास्त्रोक्तया प्रबलया तत्तन्मर्यादयाऽन्विता ॥७८॥
वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते ॥

[निम्न श्लोक पाया जाता है]—

श्री विष्णुके [केवल] श्रवणमात्रसे परीक्षित्, [केवल] कीर्तनमात्रसे [व्यासके पुत्र] शुकदेव, स्मरणमात्रसे प्रह्लाद, उनके चरणोंके सेवनसे लक्ष्मी, पूजनसे पृथु, अभिवादनसे अक्रूर, हनुमान दास्यमें, सख्यमें अर्जुन और अपने सर्वस्व समर्पणमें बलि [प्रसिद्ध हो गए हैं] उनको कृष्णकी प्राप्ति रूप परं फलकी प्राप्ति हुई है । १९७ ।

अनेक अंगों वाली भक्तिके [फलप्रदत्वका उदाहरण] जैसे नवम स्कन्धमें [लिखा है]—

उसने मनको कृष्णके चरण-कमलोंमें, वाणीको कृष्णके गुणोंके वर्णनमें, हाथोंको कृष्ण मन्दिरमें झाड़ू लगाने आदिमें, और कानोंको विष्णुकी कथाके सुननेमें लगाया । १९८ ।

कृष्ण-मन्दिरके दर्शनमें नेत्रोंको, उनके भक्तोंके शरीरके स्पर्श करनेमें अंगके संगको [अर्थात् त्वागिन्द्रियको] उनके चरण-कमलोंके सौरभके ग्रहणमें घ्राणेन्द्रियको उनके अर्पित किए हुए श्रीमती तुलसी [के पत्रादि भाग] में रसनाको [लगाया] । १९९ ।

पैरोंको कृष्णके क्षेत्र [मथुरा] में चलनेमें, शिरको कृष्णके चरणोंकी वन्दनामें, इच्छा को उनके दास्यमें [लगाया], क्योंकि [उत्तम श्लोक अर्थात्] कृष्णके भक्तोंका प्रेम फलकी कामनासे नहीं होता है [अर्थात् भक्तिसिद्धान्तके अनुसार फल-कामनासे नहीं अपितु निष्काम भावसे ही भक्तिकी सिद्धि होती है । २०० ।

वैधी भक्तिका 'मर्यादामार्ग' नाम—

शास्त्रोंमें कही हुई उस प्रबल मर्यादासे युक्त होनेके कारण इस वैधी भक्तिको कुछ लोग मर्यादा-मार्ग [नामसे] भी कहते हैं ॥ ७८ ॥

२. रागानुगा भक्ति—

इस द्वितीय लहरीके आरम्भमें ग्रन्थकारने साधनभक्तिके (१) वैधी-भक्ति और (२) रागानुगा भक्ति दो भेद किए थे । इनमेसे वैधी भक्तिका यहाँ तक अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन कर दिया अब साधन भक्तिका दूसरा भेद 'रागानुगा भक्ति' शेष रह जाता है

अथ रागानुगा

विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु ॥७६॥
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ।
रागानुगाविवेकार्थमादौ रागात्मिकोच्यते ॥८०॥
इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ॥
तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता ॥८१॥
सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद् द्विधा ।

तथा हि सप्तमे—

कामाद् द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥२०१॥

उसका विवेचन यहाँसे आरम्भ करते हैं । वैधी भक्ति और रागानुगा [illegible] साधन-भक्तिके भेद हैं । इस साधनभक्तिसे सिद्ध होने वाली [illegible] होती है । उस भावभक्ति या रागात्मिका [illegible] किन्तु यहाँ कही जाने वाली 'रागानुगा' रूप साधनभक्ति [illegible] 'भावभक्ति'के ऊपर आश्रित या उससे सम्बद्ध होती है । इसलिए 'रागात्मिका' [illegible] सामान्य परिचय करानेके बाद ही 'रागानुगा' का विषय ठीक [illegible] है । इसीलिए ग्रन्थकार 'रागानुगा' के आरम्भमें 'रागात्मिका' [illegible] परिचय देकर तब उससे सम्बद्ध 'रागानुगा' भक्तिका निरूपण करेंगे । [illegible] ग्रन्थकार अगली तीन कारिकायें यहाँ लिखते हैं—

व्रजवासी [गोपिका आदि रूप] जनोंमें स्पष्ट रूपसे विराजमान रागात्मिका [भावरूपा साध्य] भक्तिका अनुकरण करने वाली जो [साधनरूपा] भक्ति है वह [रागात्मिकाका अनुसरण करनेके कारण] 'रागानुगा' [भक्ति] कहलाती है ॥ ७६ ॥

[उस] 'रागानुगा'के स्पष्ट रूपसे समझानेकेलिए पहले [उसकी आधारभूत] 'रागात्मिका' [अर्थात् आगे कही जानेवाली भावभक्तिका निरूपण करते हैं ॥ ८० ॥

इष्ट [अर्थात् श्रीकृष्ण]में स्वाभाविक रूपसे परम आकर्षणका नाम 'राग' है । जो भक्ति उससे युक्त [रागमयी रागप्रधान] हो उसको 'रागात्मिका' [भक्तिके नामसे] कहा जाता है । [उसका विशेष वर्णन आगे किया जायगा] ॥ ८१ ॥

किन्तु संक्षेपमें उसके दो भेद होते हैं । उनको आगे कहते हैं ।

वह [रागात्मिका भक्ति] १. कामरूपा और २. सम्बन्धरूपा दो प्रकारकी होती है ।८१

जैसाकि सप्तम स्कन्धमें [निम्न श्लोकसे प्रतीत होता है]—

कामसे, द्वेषसे, भयसे अथवा स्नेहसे जिस प्रकारकी भी हो भक्तिसे ईश्वरमें मनको लगा कर [अर्थात् किसी भी रूपमें ईश्वरका चिन्तन कर] उन [काम, भय आदि]के पापको छोड़कर बहुतसे [लोग] उस परम गतिको प्राप्त हो गए २०१

इस प्रकार काम, भय द्वेष आदिसे परम-गतिकी प्राप्तिको उदाहरणों द्वारा दिखलाते

गोप्य. कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहात्त्वयं भक्त्या वयं विभो ! ॥२०२॥ इति

आनुकूल्यविपर्यासाद् भीतिद्वेषौ पराहतौ ॥८२॥
स्नेहस्य सख्यवाचित्वाद्वैधभक्त्यनुवर्त्तिता ।
किं वा प्रेमाभिधायित्वान्नोपयोगोऽत्र साधने ॥८३॥
भक्त्या वयमिति व्यक्तं वैधी भक्तिरुदीरिता ।

कामसे गोपियो, भयसे कंस, द्वेषसे शिशुपाल आदि राजा, सम्बन्धसे यादवगण, स्नेहसे आप लोग और भक्तिसे हम [परमगतिको प्राप्त हुए] । २०२ ।

छ:मेंसे दो—

सप्तम स्कन्धसे यहाँ जो दो श्लोक उद्धृत किए है उनमे १. काम, २ द्वेष, ३. भय, ४ स्नेह, ५ सम्बन्ध और ६. भक्ति इन छ: के उदाहरण दिए है । किन्तु ऊपरकी ८२वी कारिकामें रागात्मिका भक्तिके भेद दिखलाते हुए इन छ मेसे केवल १ काम और २ सम्बन्ध इन दोका ही ग्रहण किया गया है । शेष चारको छोड दिया गया है । इस भेदका रहस्य ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें बतलाते हैं । उनका अभिप्राय यह है कि भय और द्वेष तो भक्तिके मूल लक्षणके ही विपरीत जाते है । क्योकि भक्ति आनुकूल्यका नाम है । भय और द्वेष दोनो इस आनुकूल्यके विपरीत है । अत. उनका यहाँ ग्रहण नही किया गया है । स्नेह या तो सख्यभाव रूप होनेसे वैधी भक्तिमें आ जाता है या फिर प्रेमका वाचक होनेसे आगे कही जानेवाली साध्यरूपा भक्तिमें आता है । उस दशामें यहाँ साधनभक्तिके प्रसङ्गमे उसकी भी गणना नही की जा सकती है । इसलिए इन तीनोंका ग्रहण यहाँ 'रागात्मिका के भेदोंमे नही किया है । और यहाँ जो 'भक्त्या वय' लिखकर भक्तिका कथन किया है सो वह वैधी भक्तिका ग्राहक है । इसलिए उसका भी रागात्मिका भक्तिके प्रसङ्गमें ग्रहण उचित नही है । इसलिए रागात्मिका भक्तिके छ: भेद न होकर केवल कामरूपा और सम्बन्धरूपा ये दो ही भेद होते है । इसी बातको ग्रन्थकार अगली कारिकाओंमें निम्न प्रकारसे लिखते है—

आनुकूल्य [रूप भक्ति-लक्षण] के विपरीत होनेसे भय और द्वेष इन दोनोंका निराकरण हो जाता है [अर्थात् उन दोनोंको रागात्मिका भक्तिके भेदोंमें नहीं गिना जा सकता है] ॥ ८२ ॥

स्नेह [शब्दके] के [सामान्यत:] सख्यभाववाचक होनेसे [उसका] वैधभक्तिमें अंतर्भाव होता है । अथवा [दूसरे पक्षमें स्नेह शब्द] प्रेमका वाचक होनेसे यहाँ साधनभक्तिमें उसका उपयोग नहीं है [इसलिए उसको रागात्मिका भक्ति [साध्यरूप] में नहीं गिना है] ॥ ८३ ॥

और [सप्तम स्कन्धसे उद्धृत किए हुए पिछले २०२ उदाहरणमें] 'भक्त्या वयम्' इस [वचन] से स्पष्ट रूपसे वैधी भक्तिका ही कथन किया गया है । [इसलिए उसको भी रागात्मिका भक्तिके भेदोंमें नहीं गिना जा सकता है । इस प्रकार छ: मेंसे चारका निराकरण हो जानेसे रागात्मिका भक्तिके केवल १ तथा २ स दो ही भेद किए गए हैं

यदरीणां प्रियाणां च प्राप्यमेकमिवोदितम् ॥८४॥
तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात्किरणार्कोपमाजुषोः ।
ब्रह्मण्येव लयं यान्ति प्रायेण रिपवो हरेः ॥८५॥
केचित्प्राप्यापि सारूप्याभासं मज्जन्ति तत्सुखे ।

तथा च ब्रह्माण्डपुराणे—

सिद्धलोकास्तु तमसः पारे यत्र वसन्ति हि ।
सिद्धा ब्रह्मसुखे मग्ना दैत्याश्च हरिणा हताः ॥२०३॥ इति

रागबन्धेन केनापि तं भजन्तो व्रजन्त्यमी ॥८६॥
अङ्घ्रिपद्मसुधाः प्रेमरूपास्तस्य प्रिया जनाः ।

तथा हि श्रीदशमे—

ब्रह्म और कृष्णका सम्बन्ध—

ज्ञानमार्गके अनुयायी वेदान्ती ब्रह्मप्राप्तिको अपने जीवनका [illegible] मानते हैं और भक्तिमार्गके अनुयायी कृष्णको अपने जीवनका लक्ष्य मानते हैं। [illegible] माना जाता है तो ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी दोनोंका अन्तिम लक्ष्य एक ही होता है। फिर उन दोनोंमें क्या भेद रहता है? यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। ग्रन्थकारने अपनी कारिकामें स्वयं इस प्रश्नको उठाकर उसका समाधान करनेका यत्न किया है। समाधानका आशय यह है कि उन्होंने कृष्णको सूर्य-तुल्य तथा ब्रह्मको उसकी किरणोंके सदृश मानकर उनमें कथंचित् भेद प्रदर्शित किया है। इस प्रकार भक्तिमार्गमें ब्रह्मकी अपेक्षा भी कृष्णकी ज्येष्ठता सिद्ध करनेका यत्न किया गया है।

जो [कंस, शिशुपाल आदि] अरियों और [गोपी आदि] प्रियों, दोनोंके प्राप्य एक ही [कृष्ण] का कथन [ऊपर उद्धृत २०१-२०२ संख्यावाले श्लोकोंमें] किया गया है वह किरणों और सूर्यके समान ब्रह्म तथा कृष्णके अभेदके कारण किया गया है ॥ ८४ ॥

इसमें ब्रह्मको किरण रूप और कृष्णको सूर्य रूप बतलाकर कृष्ण और ब्रह्मका अभेद मानकर भी कृष्णको ब्रह्मकी अपेक्षा अधिक महत्त्व देनेका यत्न किया गया है।

कृष्णके शत्रु [शत्रुके नाते ही निरन्तर उनका चिन्तन करते हुए] प्रायः ब्रह्ममें ही लय को प्राप्त होते हैं और कोई [कृष्णके] सारूप्याभासको प्राप्त करके भी उसी [सारूप्य सुख] में मग्न हो जाते हैं। [अर्थात् भक्तिको भूलकर निम्न कोटिका फल पाते हैं] ॥ ८५ ॥

जैसा कि ब्रह्माण्डपुराण [के निम्न श्लोक] में कहा है

तमोगुण [प्रकृति] के परे सिद्ध लोक हैं जहाँ ब्रह्मसुखमें निमग्न सिद्ध लोग और विष्णु द्वारा मारे गए दैत्य लोग निवास करते हैं [अर्थात् ज्ञानमार्गी सिद्ध, कृष्ण शत्रुओंके बराबर ठहरते हैं। यह स्पष्ट रूपसे ज्ञानमार्गकी निन्दा है। २०३।

किसी अनिर्वचनीय रागविशेषसे उन [भगवान्] का भजन करते हुए भगवान् के प्रियजन, ये भक्त उनके प्रेममय चरण-कमलोंके माधुर्यको प्राप्त करते हैं ॥ ८६ ॥

जैसाकि दशम [स्कन्ध] में [कहा है]

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन-
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ॥२०४॥
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो-
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥२०५॥ इति

तत्र कामरूपा—

सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम् ॥८७॥
यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः ।
इयं तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते ॥८८॥
आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम् ।
तत्तत्क्रीडानिदानत्वात्काम इत्युच्यते बुधैः ॥८९॥

तथा च तन्त्रे—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ॥२०६॥ इति

वायुके समान [वेगवान्] मनका निरोध करने वाले और दृढतापूर्वक इन्द्रियोंको वशमें करने वाले मुनिगण अपने हृदयमें जिस [ब्रह्म] की उपासना करते हैं [कृष्णके कंसादि] शत्रु भी [प्रतिकूल भावसे ही सही] उनके स्मरणसे उस [ब्रह्म] को प्राप्त हो जाते हैं। २०४।

और शेषनागके फणके समान भुजदण्ड वाले [कृष्ण] में मनको लगाकर स्त्रियाँ [अर्थात् व्रजगोपियाँ भी उसको प्राप्त कर लेती हैं] और उन [व्रजगोपियों] के समान स्वभाव वाले हम भी उनके समान [कृष्णके] चरण-कमलोंके अमृतको प्राप्त करते हैं।२०५।

इस प्रकार यहाँ तक ग्रन्थकारने आगे कही जाने वाली 'रागात्मिका भक्तिके काम-रूपा तथा सम्बन्धरूपा दो भेद, उसके सामान्य परिचयके लिए कराए है। आगे इन दोनों भेदोंका भी थोड़ा-सा विवेचन इसलिए करते हैं जिससे 'रागानुगा' भक्तिको समझनेमें सहायता मिल सके।

उनमेंसे कामानुगा [भक्तिका लक्षण आदि आगे करते हैं]—

जो [गोपियों आदिकी] सम्भोग-तृष्णाको अपना [अर्थात् भक्तिका] अंग बना लेती है वह कामरूपा [भक्ति] कहलाती है। क्योंकि उसमें [काम-तृष्णाके द्वारा अपने सुखकी प्राप्तिके लिए नहीं अपितु] केवल कृष्णके सुखके लिए ही यत्न किया जाता है। [अतः उसको 'काम' न कहकर 'कामरूपा-भक्ति' कहा जाता है] ॥ ८७ ॥

यह [कामरूपा भक्ति केवल] व्रजगोपियोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध रूपमें पाई जाती है ॥ ८८ ॥

उन [व्रजगोपियों] का यह विशेष प्रेम किसी [अनिर्वचनीय] माधुरीको प्राप्त होकर उस-उस प्रकारकी [काम-] क्रीडाओंका हेतु बन जाता है इसीलिए विद्वानोंने उस [प्रेमविशेष] को 'काम' इस नामसे कहा है ॥ ८९ ॥

जैसा कि तन्त्रमें [कहा है]—

गोपियोंका प्रेम ही 'काम' इस नामसे प्रसिद्ध हो गया है २०६

इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः ।
कामप्राया रतिः किन्तु कुब्जायामेव सम्मता ॥६०॥

सम्बन्ध रूपा—

सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिता ।
अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां वल्लवा मता. ॥६१॥
यदैश्यज्ञानशून्यत्वादेषां रागे प्रधानता ।
कामसम्बन्धरूपे ते प्रेममात्रस्वरूपके ॥६२॥
नित्यसिद्धाश्रयतया नात्र सम्यग्विचारिते ।
रागात्मिकाया द्वैविध्याद् द्विधा रागानुगा च सा ॥६३॥
कामानुगा च सम्बन्धानुगा चेति निगद्यते ।

तत्राधिकारी—

रागात्मिकैकनिष्ठा ये व्रजवासिजनादयः ॥६४॥

इसलिए भगवान्के प्रिय उद्धवादि भी [केवल कृष्णकी सौख्यमयी] इस [कामरूपा भक्ति] को चाहते हैं। किन्तु काम-प्रधान रति तो केवल कुब्जामें ही मानी जाती है ॥६०॥

अब [रागात्मिकाके द्वितीय भेद] सम्बन्धरूपा [को कहते हैं]

कृष्णके प्रति पितृत्व आदिके अभिमानको 'सम्बन्धरूपा' [भक्ति] कहते हैं। [भक्तिके उदाहरण रूपमें दिए हुए श्लोक संख्या २०२ में 'सम्बन्धाद् वृष्णय'] इसमें वृष्णियोंके उपलक्षण रूप होनेसे [नन्द आदि] अहीर [भी सम्बन्धरूपा भक्तिके उदाहरण] माने जाते हैं ॥६१॥

क्योंकि [कृष्णमें] ईश्वरत्व बुद्धि न होनेसे इनकी [पितृत्वादि रूपेण] रागमें ही प्रधानता है। [इसलिए वे सम्बन्धरूपा भक्तिके प्रसिद्ध आश्रय माने जाते हैं]।

कामरूपा और सम्बन्धरूपा ये दोनों [भक्ति भेद] प्रेममात्र स्वरूप वाले [भावरूपा भक्तिके अन्तर्गत] हैं, उनका आश्रय नित्य सिद्ध [व्रजेश्वर आदि] होनेसे यहाँ [साधनरूपा भक्तिके प्रसंगमें] उनका [विशेष] विचार नहीं किया गया है ॥ ६२ ॥

रागानुगाभक्ति—

इस प्रकार 'रागात्मिका भक्ति' का प्रसङ्गतः थोड़ा-सा विवेचन करके अब प्रस्तुत विषय 'रागानुगा-भक्ति' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है रागानुगा-भक्ति रागात्मिका भक्तिका अनुगमन करती है। रागात्मिकाके ऊपर आश्रित होती है। इसलिए जैसे रागात्मिका भक्तिके १. कामरूपा और २. सम्बन्धरूपा दो भेद [illegible] इसी प्रकार उसके ऊपर-आश्रित रहने वाली रागानुगा-भक्तिके भी ये दोनों भेद होते हैं। इस बातको अगली कारिकामें निम्न प्रकार कहते हैं

[पूर्वोक्त] रागात्मिका [भक्ति] के दो भेद होनेसे [उसके ऊपर आश्रित रहनेवाली, उसका अनुगमन करनेवाली] रागानुगाके भी कामरूपा तथा सम्बन्धरूपा दो भेद कहे जाते हैं ॥६३॥

उस [रागानुगा भक्ति] के अधिकारी—

आगे कही जाने वाली भक्ति] में ही [सर्वात्मना] निरत जो व्रजवासी

तेषां भावाप्तये लुब्धो ।
तत्तद्भावादिमाधुर्य्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते ॥९५॥
नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम् ।
वैधभक्त्यधिकारी तु भावाविर्भावनावधिः ॥९६॥
अत्र शास्त्रं तथा तर्कमनकूलमपेक्षते ।
कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम् ॥९७॥
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्य्याद्वासं व्रजे सदा ।
सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि ॥९८॥
तद्भावलिप्सुना कार्य्या व्रजलोकानुसारतः ।
श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि तु ॥९९॥
यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः ।

जन आदि [रागात्मिकाके अधिकारी] है उनका स्वरूप [या प्रेम] प्राप्त करनेके लोभी यहाँ [अर्थात् रागानुगा भक्ति] में अधिकारी हो सकते हैं ॥ ९४ ॥

रागात्मिका भक्तिके आश्रयभूत ब्रजवासी जनोंमें जो कृष्णके प्रति प्रेम पाया जाता है उसके प्राप्त करनेका लोभ जिसमें हो उसको रागानुगा भक्तिका अधिकारी कहा गया है। किन्तु यह प्रेम किस व्यक्तिमें है किसमें नहीं इसकी पहिचान कैसे की जाय इसके बतलानेके लिए ग्रन्थकार अगली कारिकामें उसका लक्षण लिखते हैं—

[गोपिका आदिके] उस-उस भावादिके माधुर्यको सुनकर जब बुद्धि उसके विषयमें किसी शास्त्र या युक्ति आदिकी अपेक्षा नहीं करती है [तुरन्त उसपर विश्वास कर तत्पर हो जाती है] यही लोभोत्पत्तिकी पहिचान [लक्षण] है ॥ ९५ ॥

वैध भक्तिका अधिकारी तो जब तक उसमें स्वयं प्रेम उत्पन्न नहीं होता है तब तक [इस प्रकारकी बातोंपर सहसा विश्वास नहीं करता है अपितु] इस विषयमें शास्त्र तथा तर्ककी अपेक्षा करता है ॥ ९६ ॥

वह [सम्बन्धरूपा भक्तिका अधिकारी] कृष्णका, और अपने अभिमत कृष्णके अत्यन्त प्रियजनका स्मरण करता हुआ और उनकी कथामें निरत होकर सदा ब्रजमें निवास करे ॥ ९५ ॥

उस [कृष्ण अथवा ब्रजमें स्थित अपने अभीष्ट, कृष्णके प्रियजन] के भाव [रतिविशेष अनुरागविशेष] को प्राप्त करनेके लोभीको ब्रजलोक [की प्रथा] के अनुसार साधक रूपसे [अर्थात् अपने शरीरसे] तथा सिद्ध रूपसे [अर्थात् मनमें कल्पित अभीष्ट और उसके सेवोपयोगी देहसे] यहाँ सेवा करनी चाहिए। [यह व्याख्या दुर्गमसंगमिनीकारने की है ॥ ९८ ॥

और वैध भक्तिमें कहे हुए श्रवण, कीर्तन आदि जो अंग हैं उनको यहाँ [अर्थात् सम्बन्धरूपा रागानुगा भक्तिमें] भी समझना चाहिए ॥ ९९ ॥

इस प्रकार ग्रन्थकारने रागात्मिका भक्तिके अनुसार रागानुगा भक्तिके भी कामनुगा

तत्र कामानुगा—

कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी ॥१००॥
सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छाऽऽत्मेति सा द्विधा ।
केलितात्पर्यवत्येव सम्भोगेच्छामयो भवेत् ॥१०१॥
तद्भावेच्छाऽऽत्मिका तासां भावमाधुर्यकामिता ।
श्रीमूर्त्तेर्माधुरीं प्रेक्ष्य तत्तल्लीलां निशम्य वा ॥१०२॥
तद्भावाकाङ्क्षिणो ये स्युस्तेषु साधनताऽनयोः ।
पुराणे श्रूयते पाद्मे पुंसामपि भवेदियम् ॥१०३॥

पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः ।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम् ॥१०७॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले ।
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् ॥१०८॥ इति

और सम्बन्धानुगा दो भेद किए हैं। और उनके अधिकारीका वर्णन [illegible] किया है।
अब आगे वह क्रमशः कामानुगा तथा सम्बन्धानुगा [illegible] साधनभक्तिका वर्णन [illegible]।

उनमेंसे कामानुगा [साधनभक्तिका लक्षण आदि आगे करते हैं]

कामरूपा [साध्यभक्ति] का अनुगमन करनेवाली तृष्णा कामानुगा [साधनभक्ति कहलाती] है। वह भी १. सम्भोगेच्छामयी और २. तद्भावेच्छात्मिका दो प्रकारकी होती है ॥१००॥

सम्भोगेच्छामयी [कामानुगा साधनभक्ति] का तात्पर्य [मुख्य रूपसे] केलि क्रीड़ामें होता है और तद्भावेच्छात्मिका [कामानुगा साधनभक्ति] उन [व्रजगोपियों] के प्रेमके माधुर्यको प्राप्त करनेकी इच्छा वाली होती है ॥ १०१ ॥

कामानुगाके अधिकारी—

श्रीमूर्तिकी माधुरीको देखकर और उनकी लीलाओंको सुनकर जो तद्भाव [अर्थात् उनके प्रेम या तद्रूपताकी प्राप्तिके इच्छुक हो जाते हैं उनके प्रति इन दोनों [प्रकारकी कामानुगा साधनभक्तियों] की साधनता होती है [अर्थात् दोनों प्रकारकी कामानुगा साधनभक्तिके अधिकारी वे लोग होते हैं जिनके मनमें कृष्णमूर्तिके माधुर्यको देखकर या कृष्णकी मधुर लीलाओंको सुनकर उनका प्रेम प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। वे अधिकारी पुरुष और स्त्री दोनों हो सकते हैं। इस बातको अगली कारिका में लिखते हैं] ॥ १०२ ॥

पद्मपुराणमें सुना जाता है कि यह [कामानुगा साधनभक्ति [केवल स्त्रियोंमें ही नहीं किन्तु] पुरुषोंमें भी होती है ॥ १०३ ॥

[पद्मपुराणसे इसका उदाहरण आगे प्रस्तुत करते हैं]

पूर्वकालमें दण्डकारण्यमें रहनेवाले सारे महर्षिगणने सुन्दर शरीरवाले रामरूप विष्णु को देखकर [स्वयं स्त्री बनकर] उनका भोग करना चाहा। २०७।

और [उसके फलस्वरूप] वे सब स्त्रीत्वको प्राप्त कर गोकुलमें [स्त्रीरूपमें] उत्पन्न हुए और कामके द्वारा हरिको प्राप्त करके संसार सागरसे पार उतर गए। २०८।

रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधिमार्गेण सेवते ।
केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात्पुरे ॥१०४॥

तथा च महाकौर्मे—

अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे ।
भर्त्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम् ॥२०६॥ इति ।

अथ सम्बन्धानुगा—

सा सम्बन्धानुगा भक्तिः प्रोच्यते सद्भिरात्मनि ।
या पितृत्वादिसम्बन्धमननारोपणात्मिका ॥१०५॥
लुब्धैर्वात्सल्यसख्यादौ भक्तिः कार्य्याऽत्र साधकैः ।
व्रजेन्द्रसुबलादीनां भावचेष्टितमुद्रया ॥१०६॥

जो [पुरुष या स्त्री अपनी कृष्णके साथ] रमणकी इच्छाको [प्रेमके योगसे] शुद्ध बनाकर [उनमें गोपीकान्तत्व या महिषीकान्तत्वकी भावना द्वारा] विधिमार्गसे उसका सेवन करता है वह [व्रजवासित्वादि सम्बन्धके बिना] केवल उससे ही स्वर्गलोकमें [कृष्णके] महिषी भावको प्राप्त करता है ॥ १०४ ॥

जैसाकि महाकूर्मपुराणमें लिखा है]—

अग्निके पुत्र महात्मागण तपके द्वारा स्त्रीत्वको प्राप्त हुए और उन्होंने अपने पतिके रूपमें जगत्के कारण सर्वव्यापक वासुदेवको प्राप्त किया । २०६ ।

कामवासनाका परिष्कार—

ग्रन्थकारने यहाँ तक जो भक्तिके भेद किए हे उनमेंसे साधनभक्तिमें कामानुगा नामसे तथा साध्यभक्तिमें कामरूपा नामसे भक्तिके भेदोंका उल्लेख किया है और उसका पर्याप्त विस्तारके साथ विवेचन किया है। ग्रन्थकारने अपने भक्तिसिद्धान्तकी विवेचना पुराणोंके आधारपर की है और उनके अनुसार ही भक्तिके कामानुगा तथा कामरूपा ये दोनों भेद भी किए है। इन भेदोंके द्वारा भक्ति सम्प्रदायके आचार्योंने कामको परिष्कृत कर उदात्त रूप प्रदान करनेका यत्न किया हे। परन्तु फिर भी वह वाँछनीय और रुचिकर प्रतीत नहीं होता है। किसी स्त्रीको परपुरुषके साथ फिर चाहे वह साक्षात् भगवान ही क्यों न हो सम्भोगेच्छा शोभनीय नहीं है। आदर्श नहीं है। ऋषिगणोंकी रामके साथ सम्भोगकी इच्छा और भी अधिक अशोभनीय है। इस प्रकारकी कामवासनाओंका विशुद्ध भगवद्-भक्तिके साथ कोई मेल नहीं है। इसलिए कामानुगा और कामरूपा भेदोंके समावेशसे कामवृत्तिका तो उदात्तीकरण हुआ ही नहीं उलटे भक्तिके उदात्त स्वरूपका अपकर्ष अवश्य हो गया है।

अब सम्बन्धानुगा [साधनभक्तिका लक्षण आदि आगे प्रारम्भ करते हैं]—

[अपने भीतर कृष्णके] पितृत्व आदिके मनन तथा आरोपण रूप जो भक्ति है उसको सज्जन लोग 'सम्बन्धानुगा' [नामक साधनभक्ति] कहते हैं ॥ १०५ ॥

[कृष्णके प्रति] वात्सल्य सख्य आदि [भाव] के लोभी साधकोंको व्रजराज, सुबल आदिके प्रेम तथा चेष्टाओंकी तरहसे [अर्थात् स्वयं अपनेमें वास्तविक पितृत्वादिकी कल्पना न करके आरोपित पितृत्वादि रूपमें उस भक्तिको यहाँ करना चाहिए १०६

दुर्गमसंगमनीकारने यहां यह लिखा है कि पितृत्वादिका अभिमान दो प्रकारसे हो सकता है। एक तो उनके पिता आदिके साथ अभेद कल्पना द्वारा और दूसरा स्वतन्त्र रूपमें। उनमेंसे कृष्णके पिता आदिके साथ अभेद भावनासे अर्थात् अपनेको उनके पिताके साथ अभिन्न मानकर अपनेमें कृष्ण-पितृत्वका अभिमान करना अनुचित है। क्योंकि जैसे अपनेको भगवानसे अभिन्न मानकर अर्थात् 'मैं स्वयं भगवान् हूं' इस प्रकार अभेद भावना निन्दित मानी गई है। इसी प्रकार उनके पिता आदिके साथ अपना अभेद मानकर पितृ आदिकी भावना अनुचित है। इसलिए यहां कृष्णके पिता आदिके साथ अभेद भावना नहीं अपितु स्वतन्त्र रूपसे कृष्णके पितृत्वादिकी भावना द्वारा की जाने वाली भक्ति सम्बन्धानुगा-भक्ति कहलाती है। यह दुर्गमसंगमनीकारका अभिप्राय है। अपने इस अभिप्रायको उन्होंने निम्न शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है। इस कारिकाकी टीका करते हुए दुर्गमसंगमनीकार श्री जीव गोस्वामी महोदयने लिखा है कि –

"व्रजेन्द्रेति। ननु व्रजेन्द्रादिष्वभिमानेनाभीष्टत्वं। पितृत्वाद्यभिमाना हि द्विधा सम्भवन्ति। स्वतन्त्रत्वेन, तत्पित्रादिभिरभेदभावनया च। [illegible] वत्। तेषु भगवद्वदेव नित्यत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। [illegible] नुचितभावनाविशेषेणापराधापातात।"

इसका अभिप्राय यह है कि इस सम्बन्धानुगा भक्तिमें जब [illegible] कोई साधक कृष्णके प्रति पितृत्वादिकी भावना करे तो वह अपनेको कृष्णके पितासे अभिन्न न मानकर केवल उनके भाव और चेष्टाओंका अनुकरणमात्र करे। क्योंकि कृष्णके पिताके साथ अभेद-बुद्धि उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार स्वयं कृष्णके साथ अभेदबुद्धि अनुचित है। दुर्गमसंगमनीकारके इस लेखसे स्पष्ट हो जाता है कि उपासक भगवान्की भिन्न-भिन्न रूपमें उपासना तो कर सकता है किन्तु उसका यह भाव [illegible] मर्यादाके अन्तर्गत रहना चाहिए। अपनेको कृष्णमें अभिन्न मानकर अपनेको ईश्वर समझकर उपासना करना अपराध है। अपनेको कृष्णका पिता मानकर सम्बन्धानुगा भक्तिकी साधना भी अपराध है। इसीलिए इस प्रकारकी उपासनाएं अनुचित हैं। तब सारी ही सम्बन्धानुगा उपासनाएं प्रायः अनौचित्यकी श्रेणीमें आ सकती हैं। अतः साधकको यह सावधान रहना होगा कि जब वह पितृत्वादि अभिमान कर रहा है उस समय भी वह अपनेको कृष्णका पिता न समझे। अन्यथा भक्तके बजाय वह अपराधी हो जायगा। इस प्रकारकी स्थिति भक्तिमें असाध्य कल्पना ही प्रतीत होती है। अपराधसे बचनेकेलिए भेद-बुद्धिका रखना आवश्यक है। फिर भेद-बुद्धिके रहते पितृत्वादिका अभिमान बन जाय और उसमें तल्लीनता हो सके यह सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

सम्बन्धानुगा भक्तिमें जिस प्रकार मर्यादाका पालन आवश्यक माना गया है और उसका उल्लंघन अपराध गिना जाता है। इसी प्रकारकी स्थिति कामानुगा भक्तिके विषय में भी माननी होगी। उसमें भी मर्यादाका अतिक्रमण अपराध माना जायगा। कामानुगाके प्रकरणमें जो सम्भोगेच्छाका वर्णन किया गया है उसमें सर्वत्र कृष्णको पुरुषके रूपमें ही रखा गया है दूसरेको उनकी स्त्रीके रूपमें ही दिखलाया गया है कृष्णको अपनी स्त्री मानकर भोग करनेका उल्लेख नहीं किया गया है क्योंकि यह कृष्णकी मर्यादाके विपरीत होगा

तथा हि श्रूयते शास्त्रे कश्चित्कुरुपुरीस्थितः ।
नन्दसूनोरधिष्ठानं तत्र पुत्रतया भजन् ॥१०७॥
नारदस्योपदेशेन सिद्धोऽभूद् वृद्धवार्द्धकिः ।

अत एव नारायणव्यूहस्तवे—

पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम् ।
ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः ॥२१०॥ इति

कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलाभैकहेतुका ॥ १०८ ॥
पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते ।

इति भक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे साधनभक्तिलहरी द्वितीया ॥

इसी प्रकार स्त्री-पुरुषके सम्बन्धकी लौकिक मर्यादाएं हैं उनका उल्लंघन अपराध ही है। इसलिए किसी उत्तम स्त्री द्वारा कृष्णको अपने पतिके रूपमें या पतित्वको हटाकर सामान्य रूप से पर-पुरुषके रूपमें मानकर उनके साथ भोग, मर्यादाका अतिक्रमण करनेवाला है। इसी प्रकार कृष्णका किसी परस्त्रीके साथ किसी भी रूपमें भोग मर्यादाका अतिक्रमणमात्र होनेसे अनुचित और अपराधरूप ही है। इसलिए ये जो भक्तिचित्र यहाँ उपस्थित किए गए हैं वे औचित्यकी मर्यादाका अतिक्रमण कर गए हैं। उन्हे भक्तिकी मर्यादासे बाहर ही समझना चाहिए।

जैसाकि शास्त्रमें सुना जाता है कि कुरुपुरीमें स्थित वृद्धवार्द्धकि नामका कोई साधक नन्दके पुत्र [श्रीकृष्ण] की मूर्ति [अधिष्ठान] को पुत्र रूपसे उपासना करता हुआ नारदके उपदेशसे सिद्ध हो गया॥ १०७॥

इसलिए नारायणव्यूहकी स्तुतिमें [लिखा है कि]—

जो सदा उत्साहपूर्वक पति, पुत्र, सुहृत, भ्राता, पिता अथवा मित्रके समान कृष्णका ध्यान करते हैं उनको भी यहाँ हमारा बार-बार नमस्कार है। २१०।

कृष्ण और उनके भक्तोंकी कृपामात्रकी प्राप्ति ही जिसका एकमात्र फल है इस प्रकार की इस रागानुगा [साधनभक्ति] को ही कुछ लोग 'पुष्टिमार्ग' नामसे भी कहते हैं॥ १०८॥

ऊपरके श्लोकमें 'सुहृत' और 'मित्र' दोनों शब्दोंका प्रयोग आया है। वैसे ये दोनों शब्द सामान्यतः समानार्थक माने जाते हैं। किन्तु यहाँ दोनोंका साथ-साथ प्रयोग हुआ है तो उन दोनोंके अर्थमें कुछ थोड़ा-सा सूक्ष्म भेद मानना होगा। दुर्गमसंगमनीकारने 'सुहृन्निरपेक्ष हितकारी, मित्रं सह विहारीति तयोर्भेदः' लिखकर उन दोनोंका यह भेद प्रदर्शित किया है।

इस लहरीमें ग्रन्थकारने साधनभक्तिके दो भेद किए थे एक वैधी-भक्ति और दूसरी रागानुगा-भक्ति। वैधी भक्तिके निरूपणमें चार बातोंपर विशेष बल दिया है—

१. भक्तिमार्गके साधकके लिए भक्तिका महत्त्व मोक्षसे भी अधिक है।
२. भक्तिका अधिकार मनुष्यमात्रको है। शूद्र भी भक्तिका अधिकारी है।
३ भक्तको प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है।
४. कर्म भक्तिका अङ्ग होता है। किन्तु ज्ञान और वैराग्य उसके अङ्ग नहीं है।

के पूर्व विभागमें साधनलहरी नामक द्वितीय लहरी समाप्त हुई ।१ २

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेम सूर्य्यांशुसाम्यभाक् ।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥१॥

तथा हि तन्त्रे—

प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते ।
सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः ॥ २११ ॥

स यथा पद्मपुराणे—

ध्यायं ध्यायं भगवतः पदाम्बुजयुगं तदा ।
ईषद्विक्रियमाणात्मा सार्द्रदृष्टिरभूदसौ ॥२१२॥ इति

है एक ही वर्गमें समाविष्ट हो सकती हैं। उस दशामें साधनरूपा भक्ति तथा साध्यरूपा भक्ति ये दो ही भक्तिके भेद होते हैं। किन्तु साध्यरूपा भक्तिमें भाव तथा प्रेम दोनोको अलग-अलग स्थान मानकर उसके तीन भेद दिखलाए गए हैं।

इस भावलहरीमें भावभक्तिका निरूपण करता है। मनकी विशुद्ध सत्त्वप्रधान अवस्थाका नाम भाव है। प्रेम-सूर्यकी किरणोंके साथ उसकी उपमा दी गई है। इस [illegible] जिसमें विशेष प्रकारकी आर्द्रता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए ग्रन्थकारने इसे 'चित्तमासृण्यकृत्' कहा है। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनरूपा' भक्ति वैधी तथा रागानुगा साधनभक्तियोंके अभ्याससे जब विशुद्ध सत्त्वप्रधान और चित्तमें विशेष प्रकारके द्रवीभावको उत्पन्न करनेवाली बन जाती है तब उसको 'भाव' कहते हैं। यह अवस्था आगे प्रकाशित होनेवाले प्रेमसूर्यका उषःकाल है। सूर्योदयके पूर्व उषःकालमें जिस प्रकार सूर्यकी अनुरागमयी रश्मियां उदय होकर विश्वके अन्तस्तलमें एक विशेष प्रकारकी अद्भुत पावनताका संचार कर देती है। इसी प्रकार प्रेमसूर्यकी पावन रश्मियोंके सदृश 'भाव' उदय होकर चित्तमें विशेष प्रकारके 'मासृण्य' या द्रवीभावको उत्पन्न कर देता है। इसी अभिप्रायको मनमें रखकर ग्रन्थकारने 'भाव' का लक्षण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

प्रेम रूप सूर्यकी किरणोंके समान, अपनी [कृष्ण-प्राप्तिके अभिलाष तथा कृष्णके सौहार्दाभिलाष आदि रूप] कान्तियोंके द्वारा चित्तके द्रवीभाव [मासृण्य] को उत्पन्न करनेवाला, शुद्ध सत्त्व विशेष [अर्थात् चित्तकी विशुद्ध सत्त्वप्रधान अवस्था] रूप वह [पूर्वकथित सामान्य भक्ति ही] 'भाव' [नामसे] कहा जाता है ॥ १ ॥

जैसाकि तन्त्रमें [भी कहा है]—

प्रेमकी प्रथम अवस्था 'भाव' इस नामसे कही जाती है। इसमें अश्रु-रोमांच आदि सात्त्विकभाव स्वल्प मात्रामें [प्रकट] होते हैं। २११।

वह [भाव] जैसाकि पद्मपुराणमें [निम्न उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया गया है]—

तब वह भगवान्के दोनों चरणकमलोंका बार-बार ध्यान करता हुआ कुछ उच्छ्वसित त [ईषद्विक्रियमाणात्मा] और अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे युक्त हो गया। २१२।

भावकी विषयरूपता—

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है 'भाव' चित्तकी विशुद्ध सत्त्वप्रधान विशेष अवस्थाका नाम है। चित्तकी इस प्रकारकी विशेष अवस्थाओंको 'चित्तवृत्ति' कहते हैं। इसलिए भाव भी चित्तवृत्ति रूप है जिस प्रकार पानी नालियोंके द्वारा खेतमें आकर चौकोर वर्गाकार या

आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम् ।
स्वयंप्रकाशरूपाऽपि भासमाना प्रकाश्यवत् ॥२॥
वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ ।
कृष्णादिकर्म्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते ॥३॥

आयताकार आदि जिस प्रकारकी क्यारी [illegible] उसी [illegible] आकार धारण कर लेता है। इसी प्रकार इन्द्रिय-प्रणालिका [illegible] विषयके साथ सम्बद्ध होता है तब अर्थाकार रूपमें परिणत हो जाता है। [illegible] परिणतिका नाम 'चित्तवृत्ति' है। इसलिए 'भाव' रूप जो यह [illegible] चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है किन्तु कृष्ण अथवा अन्य जो कोई भी [illegible] तदाकार हो जाती है। और स्वयं प्रकाशमान होकर भी [illegible] कृष्णादिके रूपमें भासती है। स्वयं आस्वाद-स्वरूप होकर भी [illegible] प्रतीत होती है। अर्थात् उस स्थितिमें आस्वादका कर्म-कारक कृष्ण [illegible] होता है। इसी बातको ग्रन्थकार अगली दो कारिकाओंमें निम्न प्रकार [illegible]

[वह भाव रूप अवस्था विशेष वैधी तथा रागानुगा रूप दोनों प्रकारकी साधनभक्तियों के द्वारा] चित्तवृत्तिमें आविर्भूत होकर उस [कृष्णादि ध्येयतत्त्व] के स्वरूपको प्राप्त करती हुई, स्वयं प्रकाशरूपा होनेपर भी प्रकाश्य [कृष्णादि रूप ध्येयतत्त्व] के समान प्रतीत होती है ॥ २ ॥

और वस्तुतः स्वयं आस्वाद रूप भी यह रति [भाव] कृष्णादिकर्मक आस्वादका हेतु बन जाती है। [अर्थात् उसमें आस्वाद क्रियाके कर्मकारकभूत कृष्णादि ध्येयतत्त्वका आस्वाद प्रतीत होता है। वस्तुतः वह स्वयं चित्तवृत्तिका ही आस्वाद होता है] ॥ ३ ॥

भावके दो भेद—

भक्तगणोंमें यह 'भाव' का उदय दो प्रकारसे पाया जाता है। [illegible] वैधी तथा रागानुगा भक्तिके अभ्यासमें ही आगे [illegible] होता है। किन्तु कभी-कभी पूर्वजन्मके अर्जित संस्कारोंके [illegible] वैधी [illegible] रागानुगा रूप साधनभक्तिके अभ्यासके बिना ही किन्हीं सौभाग्यशाली [illegible] 'भाव'का उदय हो जाता है। योगदर्शनमें भी [illegible] दो भेद 'भवप्रत्यय' तथा 'उपायप्रत्यय' नामसे किए हैं। 'उपायप्रत्यय' अर्थात् [illegible] द्वारा समाधिका लाभ साधारण रूपमें होता है किन्तु 'भवप्रत्यय' अर्थात् उपायोंके बिना केवल पूर्व जन्मके संस्कारोंके बलसे समाधिका लाभ विशिष्ट पुण्यवानोंको ही होता है। इसी प्रकार यहाँ भक्तिमार्गमें विशिष्ट पुण्यवानोंको साधनभक्तिके बिना भी 'भाव' की प्राप्ति हो जाती है। ग्रन्थकार इस प्रकारकी भाव-प्राप्तिको पूर्व-जन्मके संस्कारोंका फल न मानकर भगवान् अथवा उनके भक्तोंकी कृपाका फल मानते हैं। वैसे यह कृपा भी पूर्वजन्मके संस्कारोंसे ही प्राप्त होती है। किन्तु उनका बल पूर्व-संस्कारों पर नहीं भगवान् और उनके भक्तोंकी कृपा पर है। भावप्राप्तिके इन दोनो भेदोंको ग्रन्थकारने अगली [illegible] निम्न प्रकार दिखलाया है

साधनाभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्तयोस्तथा ।
प्रसादेनातिधन्यानां भावो द्वेधाऽभिजायते ॥४॥
आद्यस्तु प्रायिकस्तत्र द्वितीयो विरलोदयः ।

तत्र साधनाभिनिवेशजः—

वैधीरागानुगामार्गभेदेन परिकीर्त्तितः ॥ ५ ॥
द्विविधः खलु भात्यत्र साधनाभिनिवेशजः ।
साधनाभिनिवेशस्तु तत्र निष्पादयन् रुचिम् ॥६॥

---

१. [वैधी तथा रागानुगा रूप] साधनोंके अनुष्ठानसे तथा २. भगवान् [कृष्ण] अथवा उनके भक्तोंकी कृपासे दो प्रकारका 'भाव' अत्यन्त सौभाग्यशालियोंमें उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

उनमेंसे पहला [अर्थात् साधनानुष्ठान-जन्य भाव] तो प्रायः पाया जाता है किन्तु दूसरा [अर्थात् भगवान् या उनके भक्तोंकी कृपासे प्राप्त होने वाला भाव] बहुत कम [अर्थात् विशेष पुण्यात्माओं और सौभाग्यशालियोंको ही] प्राप्त होता है ।

'भाव' के साधनानुष्ठान-जन्य तथा भगवत्कृपा-जन्य ये जो दो भेद यहाँ किए गए है उनका प्रतिपादन यहाँ ग्रन्थकारने डेढ़ कारिकामें किया है । पाँचवी कारिकाका आधा भाग इधर आ गया है और शेष आधे भागका सम्बन्ध अगले विषयसे है । इस क्रमको रखनेसे आगेकी अनेक कारिकाओंकी भी यही स्थिति हो जाती है कि उनका आधा भाग एक विषय से सम्बद्ध हो जाता है और आधा भाग दूसरे विषयसे सम्बद्ध हो जाता है । यह स्थिति बड़ी अटपटी-सी मालूम होती है । अर्थके समन्वयमें एक बाधा-सी प्रतीत होती है । इसको बचानेके लिए हमने यहा हिन्दी अनुवादमें चार संख्या इस डेढ़ श्लोकके बाद डाली है । इससे आगेकी कारिकाओंमें होने वाली असुविधा बच जावेगी । इस प्रकारका व्यवहार अन्य जगह भी पाया जाता है ।

साधनाभिनिवेशजन्य भाव—

'भाव' के उपर्युक्त दो भेदोंमेंसे जो प्रथम 'साधनाभिनिवेशजन्य भाव' कहा गया है वह भी दो प्रकारका होता है । एक वैधी भक्तिसे जन्य और दूसरा रागानुगाभक्तिसे जन्य । पहले साधनभक्तिके वैधी तथा रागानुगा नामसे दो भेद बतलाए थे । उन दोनोंसे ही 'भाव' की उत्पत्ति हो सकती है । इसलिए यहाँ साधनाभिनिवेश-जन्य भावके भी दो भेद माने गए है । इन दोनों भेदोंका निर्देश और उनके लक्षण तथा उदाहरणादि द्वारा उनका विवेचन ग्रन्थकार अगले प्रकरणमें निम्न प्रकार करते है—

अब साधनाभिनिवेशजन्य [भावभक्तिका निरूपण करते हैं]—

वैधी तथा रागानुगा मार्गोंके भेदसे [साधनभक्ति दो प्रकारकी कही गई है उसके अनुसार कहा हुआ [उनसे साध्य [भाव भी] दो पाया

रतिं संजनयत्यसौ ।

तत्राद्यो यथा प्रथमस्कन्धे—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतां, अनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः ॥२१३॥

रत्या तु भाव एवात्र न तु प्रेमाऽभिधीयते ॥७॥
मम भक्तिः प्रवृत्तेति वक्ष्यते स यदग्रतः ।

यथा तत्रैव —

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेर्विशृण्वतो मेऽनुपदं यशोऽमलम् ।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोपहा ॥२१४॥

लगनको विकसित कर रति या प्रेमको उत्पन्न करता है वह [साधनाभिनिवेशजन्य भाव कहलाता है] ॥ ६ ॥

यहाँ पर पूर्व संस्करणोंमें पहले भावके दो भेद दिखलाने वाली कारिका दी गई है और उसके बाद उसका लक्षण करने वाली कारिका दी गई है। अच्छा यह होता कि पहले लक्षण वाली कारिका दी जाती और उसके बाद भेदपरक कारिका दी जाती। किन्तु पूर्वसंस्करणोंमें जिस रूपमें पाठ दिया गया है उसमें उसी पाठक्रमको रखा है। [illegible] दृष्टिसे यह निर्देश यहाँ कर दिया है।

उनमेंसे पहला [अर्थात् वैधी भक्तिके अनुष्ठानसे जन्य साधनाभिनिवेशज भावका उदाहरण आगे देते हैं] जैसाकि [भागवतके] प्रथम स्कन्धमें [कहा गया है]—

वहाँ कथा करने वालोंकी कृपासे मैंने प्रतिदिन मनको हरण करने वाली कृष्णकी कथाओंको सुना। [उन कथाओंके] प्रत्येक पदको श्रद्धापूर्वक सुननेसे प्रिय [कृष्ण, अथवा कथाओं]को श्रवण करने वाले मेरे भीतर [कृष्णके प्रति भाव रूप] रति उत्पन्न हो गई। [अंग पद यहाँ सम्बोधनमें है]। २१३।

इस उदाहरणमें 'ममाभवद्रतिः' पदमें रतिके उत्पन्न होनेकी बात कही है। यह रति शब्द प्रेमका भी वाचक हो सकता है और भावका भी। इसलिए यह शब्द बाधक है। प्रेम और भावका अन्तर ऊपर बतलाया जा चुका है। यहाँ भावके लक्षणका प्रसंग चल रहा है। इसलिए यहाँ 'रति' शब्दसे प्रेमका नहीं अपितु 'भाव' का ही ग्रहण करना चाहिए। इस बातको ग्रन्थकार अगली कारिकामें निम्न प्रकार लिखते हैं

यहाँ [अर्थात् इस उदाहरणमें] 'रति' [शब्द] से 'भाव' का ही कथन किया गया है 'प्रेम' का नहीं। उस [प्रेम] का कथन तो 'मम भक्तिः प्रवृत्ता' इत्यादिसे आगे [उदाहरण सं० २१४ में 'भक्ति' शब्दके द्वारा] किया जायगा ॥ ७ ॥

[आगे फिर वैधी भक्तिके अनुष्ठानसे जन्य साधनाभिनिवेशज 'भाव' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं] जैसा कि वहीं [अर्थात् भागवतके प्रथम स्कन्धमें फिर कहा है]—

इस प्रकार वर्षा और शरत् दो ऋतुओंमें निरन्तर मुनियों तथा महात्माओंके द्वारा गान किए जानेवाले भगवान् [हरि] के विमल यशको सुनते हुए मेरे भीतर अपने रजोगुण तथा तमोगुणको नष्ट कर देनेवाली भक्ति [भाव] का उदय हुआ २१४

तृतीये च

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायना कथा
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥२१५॥ इति

पुराणे नाट्यशास्त्रे च द्वयोस्तु रतिभावयोः ॥८॥
समानार्थतया ह्यत्र द्वयमैक्येन लक्षितम् ।

द्वितीयो यथा पाद्मे—

इत्थं मनोरथं बाला कुर्वती नृत्य उत्सुका ।
हरिप्रीत्या च सर्वां तां रात्रिमेवात्यवाहयत् ॥२१६॥

अथ कृष्णतद्भक्तप्रसादजः—

साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते ॥९॥

और तृतीय [स्कन्ध] में भी [वैधीभक्तिके अनुष्ठानसे जन्य साधनाभिनिवेशज भावका उदाहरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है]—

सज्जनोंके संगसे मेरे प्रभावको समझनेवाले [साधक] के लिए [भगवान्‌की] कथाएँ उसके हृदय और कानों [दोनों] के लिए रसायन [औषधके समान शक्तिप्रद] बन जाती है। और उनके सेवनसे [साधकके भीतर] अपवर्ग-मार्गमें क्रमसे श्रद्धा, रति, [भाव] और भक्ति [प्रेम] उत्पन्न होते हैं। २१५।

इस उदाहरणमें, और साधनाभिनिवेशजन्य भावके प्रथम उदाहरण 'तत्रान्वह' इत्यादि श्लोक संख्या २१३ में, 'भाव' के लिए 'रति' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसका कारण बतलाते हुए ग्रन्थकारने अगली कारिकामें लिखा है—

पुराण और नाट्यशास्त्रमें रति और भावके समानार्थक [रूपमें प्रयुक्त] होनेसे यहाँ [भी] दोनोंको एक मानकर लक्षण किया है। [अर्थात् जैसे नाट्यशास्त्र आदिमें रतिको स्थायिभाव मानकर रति और भावकी समानार्थकता सूचित की गई है। इसी प्रकार हमने यहाँ रति शब्दसे भावका प्रतिपादन किया है] ॥ ८ ॥

दूसरा [अर्थात् रागानुगा रूपा साधनभक्तिके अनुष्ठानजन्य 'भाव' का उदाहरण] जैसा कि पद्मपुराणमें [निम्न प्रकार पाया जाता है]—

इस प्रकार [कृष्णके साथ नाचनेके लिए] मनोरथ करती हुई नृत्यके लिए उत्सुक बालाने कृष्णके प्रेममें उस सारी रात्रिको ही [उनकी प्रतीक्षामें] व्यतीत कर दिया।२१६।

भगवत्कृपाजन्य भाव—

इस प्रकार यहाँ तक साधनाभिनिवेशजन्य भावको ग्रंथकारने लक्षण तथा उदाहरणादि के द्वारा भली प्रकारसे प्रदर्शित कर दिया है। अब भगवान् अथवा उसके भक्तोंकी कृपासे उत्पन्न दूसरे प्रकारके भावका वर्णन आगे करते हैं। इस कोटिमें उसी भावभक्तिका समावेश होता है जो साधनोंके अनुष्ठानके बिना प्राप्त नहीं होती है। इसलिए उसका लक्षण ग्रंथकारने अगली कारिकामें निम्न प्रकार किया है—

साधनोंके [अनुष्ठानके] बिना ही जो [स्वयं अपने आप] सहसा उत्पन्न हो जाता है वह भाव कृष्ण अथवा उनके भक्तोंकी कृपासे प्राप्त भाव कहलाता है ९ ।

स भाव इतीयते ।

तत्र कृष्णप्रसादजः—

प्रसादा वाचिकालोकदानहार्दादयो हरेः ॥१०॥

तत्र वाचिकप्रसादजो यथा श्रीनारदीये—

सर्वमङ्गलमूर्द्धन्या पूर्णानन्दमयी सदा ।
द्विजेन्द्र ! तव मय्यस्तु भक्तिरव्यभिचारिणी ॥२१७॥

आलोकदानजो यथा स्कान्दे—

अदृष्टपूर्वमालोक्य कृष्णं जाङ्गलवासिनः ।
विक्लिद्यदन्तरात्मानो दृष्टिं नाकष्टुमीशिरे ॥२१८॥

हार्दः—

प्रसाद आन्तरो यः स्यात् स हार्द इति कथ्यते ।

यथा शुकसंहितायां—

महाभागवतो जातः पुत्रस्ते बादरायण ! ।
विनोपायैरुपेयाऽभूद्विष्णुभक्तिरिहार्दिना ॥२१९॥

उनमेंसे कृष्णकी कृपासे जन्य [भावका वर्णन आगे करते हैं]

[कृष्णकी] कृपा १. वाचिक, २. दर्शन देनेके द्वारा और ३. हार्दिक [मानसिक] आदि [मुख्य रूपसे तीन प्रकारकी] होती है ॥ १० ॥

उनमेंसे वाचिक प्रसादसे उत्पन्न [भावका उदाहरण] जैसाकि श्री नारदीयपंचरात्रमें [दिया गया है]—

हे विप्रवर ! समस्त मंगलोंमें सर्वश्रेष्ठ, सदा पूर्ण आनन्दमयी, सदा रहनेवाली [अव्यभिचारिणी] मेरे प्रति भक्ति आपको भक्तको] प्राप्त हो । २१७ ।

यहाँ कृष्णके वचनसे 'भाव' की प्राप्ति होती है । अतः यह वाचिकप्रसादजन्य 'भाव' का उदाहरण है ।

दर्शन देनेसे उत्पन्न [भावका उदाहरण] जैसाकि स्कन्दपुराणमें [निम्न श्लोकमें पाया जाता है]—

जंगल प्रदेशके रहनेवाले, अदृष्टपूर्व कृष्णको देखकर [भक्तिके वश] अन्तःकरणके द्रवीभावसे युक्त होकर [उनकी ओरसे अपनी] दृष्टिको हटानेमें समर्थ न हो सके । २१८ ।

[तीसरे प्रकारके] हार्द [प्रसादका लक्षण और उससे उत्पन्न भावका उदाहरण आगे देते हैं । हार्द प्रसादका लक्षण निम्न प्रकार है]—

जो प्रसाद भीतरका [कृष्णके हृदयके भीतर ही रहनेवाला] हो उसको 'हार्द' [प्रसाद] कहा जाता है ।

[उस हार्द प्रसादजन्य भावका उदाहरण] जैसा कि शुकसंहितामें [निम्न श्लोकमें दिखलाया गया है]—

हे व्यासदेव ! आपके परम भगवद्भक्त पुत्र [शुकदेव] उत्पन्न हुआ है जिसको बिना उपायों के के ही प्राप्त होनेवाली [ ] भक्ति हुई है ।२१९।

अथ तद्भक्तप्रसादजः -

यथा सप्तमस्कन्धे—

गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते ।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ॥२२०॥ इति

नारदस्य प्रसादेन प्रल्हादे शुभवासना ।
निसर्गः सैव तेनात्र रतिर्नैसर्गिकी मता ॥२२१॥

स्कान्दे च—

अहो धन्योऽसि देवर्षे कृपया यस्य तत्क्षणात् ।
नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धको रतिमच्युते ॥२२२॥ इति,

भक्तानां भेदतः सेयं रतिः पञ्चविधा मता ॥११॥

अग्रे विविच्य वक्तव्या तेन नात्र प्रपञ्च्यते ।
क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ॥१२॥

उन [भगवान्] के भक्तोंके प्रसादसे जन्य [भावका उदाहरण]—

जैसाकि [भागवतके] सातवें स्कन्धमें [निम्न श्लोकमें कहा है]—

जिसकी भगवान् कृष्णमें स्वःभाविक प्रीति है उसका महात्म्य [उसके स्वयं उद्भूत] असंख्य गुणोंसे सूचित होता है । २२० ।

नारदकी कृपासे [बिना उपायोंका अनुष्ठान किए हुए ही] प्रह्लादमें शुभ वासना [भगवद्भक्ति] उदय हो गई थी । इसीको स्वभाव कहते है इसलिए उसको नैसर्गिक [भक्ति] कहा गया है । २२१ ।

और स्कन्दपुराणमें भी [इस भावका उदाहरण निम्न प्रकार पाया जाता है]—

हे देवर्षि ! आप धन्य हैं जिनकी कृपासे नीच व्याध भी रोमांच [आदि सात्त्विक भावों से] युक्त होकर कृष्णकी भक्तिको प्राप्त हुआ । २२२ ।

भक्तोंके [पाँच प्रकारके] भेदोंसे [भक्तिप्रसादजन्य] यह भाव [रति] पाँच प्रकारका माना गया है । उसका वर्णन आगे करेंगे इसलिए यहाँ उसका विस्तार [पूर्वक वर्णन] नहीं किया है ॥ ११ ॥

भगवद्भक्ति रूप भावके अनुभाव—

साधनानुष्ठानजन्य और भगवान [कृष्ण] अथवा उनके भक्तोंकी कृपासे जन्य दो प्रकारके भावोंका वर्णन ऊपर किया गया है । इस प्रकारका 'भाव' या रति जब मनके भीतर उत्पन्न होता है तब भक्तमें उसके कुछ वाह्य चिह्न भी प्रकट होते है जिनसे उसके हृदयके अन्तवर्ती इस भावका आभास देखने वालोको भी प्राप्त हो जाता है । इस प्रकारके चिह्न इस भावोत्पत्तिके बाद उत्पन्न होते हैं और उसके कार्य होते है इसलिए उनको 'अनुभाव' नाम से कहा जाता है । साहित्यशास्त्रमें रसोंके साथ जिस प्रकार 'अनुभावों'का वर्णन होता है उसी प्रकार यहां भी 'भाव' के साथ 'अनुभावों' का वर्णन किया गया है । ग्रन्थकार भक्तिके इन अनुभावोंका वर्णन अगली दो कारिकाओंमें निम्न प्रकार करते हैं

१ क्षान्ति सहनशीलता २ समयको व्यर्थ न खोना ३ वैराग्य, ४ अभिमान

आशाबन्धः सधुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः ।
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले ॥१३॥
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ।

तत्र क्षान्तिः—

क्षोभहेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरक्षुब्धात्मता ॥१४॥

यथा प्रथमे—

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्राः ! गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥२२३॥

अव्यर्थकालत्वं यथा हरिभक्तिसुधोदये—

वाग्भिः स्तुवन्तो मनसा स्मरन्तस्तन्वा नमन्तोऽप्यनिशं न तृप्ताः ।
भक्ता स्रवन्नेत्रजलाः समग्रमायुर्हरेरेव समर्पयन्ति ॥२२४॥

अथ विरक्तिः—

विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्यादरोचकता स्वयम् ।

शून्यता, ५. आशावाद, ६. समुत्कण्ठा, ७. नामकीर्तनमें सदा रुचि, ८. उन [भगवान्]के गुण-गानमें प्रेम, ९. उनके वासस्थलमें अनुराग इत्यादि अनुभाव उस पुरुषमें पाए जाते हैं जिसमें [भगवद्विषयक] भावका अंकुर उत्पन्न हो गया है ॥ १२-१३ ॥

इस प्रकार इन दो कारिकाओंमें भावकी उत्पत्तिके बाद भक्तमें आविर्भूत होनेवाले अनुभावोंके नामोंका कथन किया है। अब आगे वे क्रमशः इन अनुभावोंके लक्षण करते हुए उदाहरणों द्वारा समझानेका यत्न करेंगे। उनमेंसे पहले 'क्षान्ति' का लक्षण करते हैं—

उनमेंसे क्षन्ति [का लक्षण और उदाहरण निम्न प्रकार है]—

क्षोभका कारण उपस्थित होनेपर भी क्षुब्ध न होना 'क्षान्ति' [कही जाती है] ॥१४॥

जैसा कि [भागवतके] प्रथम [स्कन्ध] में [निम्न श्लोकमें क्षान्तिका उदाहरण पाया जाता है]—

हे विप्रो ! आप मेरे पास भले ही मत आइए या [आकर भी] वापस चले जाइए। गङ्गादेवी भी शिवमें मन लगाए हुए [वहीं बनी] रहें [मेरे ऊपर कृपा न करे, कर्मकाण्डी] ब्राह्मणोंके द्वारा प्रेरित साँप या तक्षक नाग भले ही डस ले [इन सब बातों की मुझे कोई चिन्ता नहीं है। पर कृपा करके] विष्णुकी कथाका गान करते रहें।२२३।

अव्यर्थकालत्व [का उदाहरण] जैसाकि 'हरिभक्तिसुधोदय'में [निम्न श्लोक द्वारा प्रस्तुत किया गया है]—

जिनके नेत्रोंसे [प्रेमके] आँसुओंका जल बह रहा है इस प्रकारके भक्तगण वाणीके द्वारा [भगवान्की] स्तुति करते हुए, मनसे [भगवान्का स्मरण करते हुए, शरीरसे [भगवान्को] रात-दिन नमस्कार करते हुए भी तृप्त नहीं होते] हैं। और सारी आयुको भगवान् [की भक्ति] के ही अर्पण कर देते हैं। २२४।

अब विरक्ति [का लक्षण तथा उदाहरण आगे देते हैं]—

इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति [अस्वस्थता आदिके बिना] स्वयं ही अरुचि हो जाना 'विरक्ति'